पू. उपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा. विरचित

द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका

(हिन्दी अनुवाद)

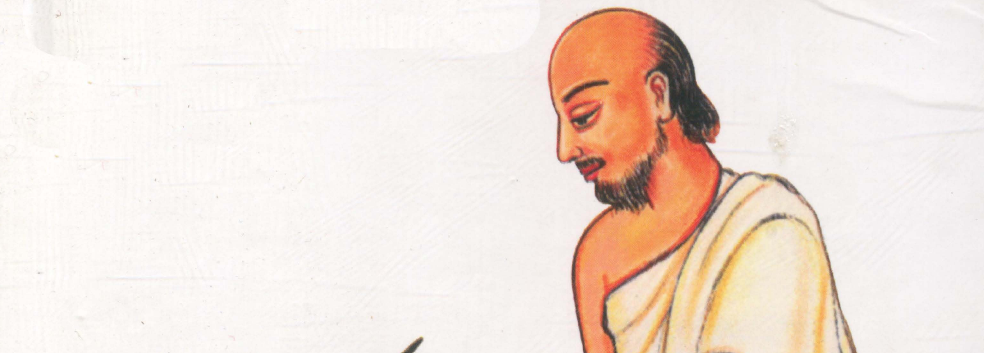

अनुवादिका

सा.श्री रुचिदर्शनाश्रीजी म.सा.

॥ श्री आदिनाथाय नमः ॥
॥ प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ॥

पू. उपाध्याय यशोविजयजी म.सा. विरचित

द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका ग्रन्थ

(हिन्दी भाषानुवाद)

: दिव्य शक्ति प्रदाता :

विश्वपूज्य प्रातः स्मरणीय श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

पुण्यसम्राट आचार्यदेवेश श्रीमद्विजयजयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा.

: आशीर्वाद प्रदाता :

गच्छाधिपति श्रीमद्विजय निलसेनसूरीश्वरजी म.सा.

आचार्य प्रवर श्रीमद्विजय जयरत्नसूरीश्वरजी म.सा.

: दिव्य आशीष :

प.पू. महाप्रभाश्रीजी म.सा.

: प्रेरणा :

मेवाड़मालवा सिंहनी प.पू. प्रीतिदर्शनाश्रीजी म.सा.

: अनुवादिका :

सा. श्री रुचिदर्शनाश्रीजी म.सा.

पुस्तक का नाम :-

द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका ग्रन्थ (हिन्दीभाषानुवाद)

अनुवादिका :-

सा. श्री रुचिदर्शनाश्रीजी म.सा.

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :-

(१) श्री राज राजेन्द्र शोध संस्थान, उज्जैन, (म.प्र.)
(२) श्री जयन्तसेन म्यूजियम, मोहनखेड़ा तीर्थ रोड, पोस्ट - राजगढ़, (म.प्र.)

प्रथम संस्करण :- ई.स. २०१८

वि. स. २०७४

राजेन्द्र सं. ११३

प्रतियां - ६५०

-: सुकृतसहयोगी :-

प.पू. डॉ. प्रीतिदर्शनाश्रीजी म.सा., पू. रुचिदर्शनाश्रीजी म.सा., पू. श्रुतिदर्शनाश्रीजी म.सा., पू. तृप्तिदर्शनाश्रीजी म.सा., पू. प्रीतदर्शनाश्रीजी म.सा. एवं रीतदर्शनाश्रीजी म.सा. की निश्रा में भीनमाल चातुर्मास के अन्तर्गत प्रासज्ञान खाते की राशि से इस पुस्तक का लाभ श्री भीनमाल जैन संघ द्वारा लिया गया।

प्रस्तावना

उद्भट मनीषी महानग्रंथकार सरस्वतीपुत्र उपाध्याय यशोविजयजी के नाम से साहित्यजगत में कौन अनभिज्ञ होगा । उपाध्याय यशोविजयजी को आचार्य हरिभद्र तथा हेमचन्द्राचार्य की परम्परा का अंतिम तेजस्वी विद्वान माना जाता है। यशोविजयजी जैसे प्रकांड विद्वान् एवं समर्थ सर्जक को कई विद्वानों ने 'हरिभद्र लघु बांधव' इस बिरुद से नवाजा है । उपाध्याय यशोविजयजी एक ऐसे धृतिसंपन्न अनुपम मनीषी थे जिन्होंने जिनवाणी रूपी समुद्र में गहरी डुबकी लगाकर अनेक ग्रंथ रूपी सुन्दर मोती उपलब्ध किए हैं । वे आज विद्यमान नहीं है किंतु उनकी ज्ञान सौरभ से आज भी सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय महक रहा है ।

एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य यह है कि, जैनधर्म के परम प्रभावक, महान् दार्शनिक और तार्किक उपाध्याय यशोविजयजी जैसे महापुरुष का क्रमबद्ध जीवनवृत्त हमे उपलब्ध नहीं होता है । उनके किसी सहपाठी अथवा शिष्य के द्वारा इस प्रकार की रचना का कोई कार्य नहीं किया गया । किसी पट्टावली के द्वारा भी उनकी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है । कांतिविजयजी नाम के एक मुनिवर ने उनके कुछ वर्षो पश्चात् 'सुजसवेलीभास' नाम की एक छोटीसी कृति की रचना की । जिसमें यशोविजयजी का जीवनवृत्त उपलब्ध होता है किंतु इस कृति से भी पर्याप्त जानकारी प्राप्त नहीं होती है ।

- 'सुजसवेलीभास' के अनुसार मां सोभागदे की पवित्र कुक्षी से उपाध्याय यशोविजयजी का जन्म हुआ । इनके बचपन का नाम जसवंत था । यशोविजयजी का जन्मस्थान गुर्जरदेश में कनोडु नामक गाँव है ।

विक्रम संवत् १६६३ में यशोविजयजी के गुरु नयविजयजी ने स्वयं वस्त्रपट पर मेरुपर्वत का आलेखन किया था । यह चित्रपट वर्तमान में सुरक्षित रखा हैं । इस चित्रपट में उपाध्याय यशोविजयजी का उल्लेख 'गणि' के विशेषण से किया गया है ।

इस चित्रपट के अनुसार हम विचार करें तो १९६३ में यशोविजयजी गणी थे तो यह मानना होगा कि, सं. १९५३ के लगभग उनकी दीक्षा निष्पन्न हुई होगी। अगर वे बालदीक्षित हो तो आठ वर्ष की सुकुमारवय मे वे श्रामण्य के

मार्ग पर चल पड़े होंगे, अतः वि. संवत् १६४५ के तकरीबन इनका जन्म हुआ होगा । यशोविजयजी का स्वर्गवास वि. संवत् १७४३-४४ में हुआ था । अतः संवत् १६४५ से संवत् १७४४ तक का इनका जीवन काल सौ वर्ष का रहा होगा । ऐसा इस पट के आधार पर निश्चित किया जा सकता है ।

सुजसवेलीभास के अनुसार संवत् १६८८ में नयविजयजी कनोडु पधारे थे और इसी वर्ष यशोविजयजी की बड़ी दीक्षा पाटन में संपन्न हुई थी ।

''संवत् सोल अठ्यासियेजी रही कुणगिरि चौमासी
श्रीनयविजय पंडितवरुजी आव्याकनहोड़े उल्लासि
विजयदेवगुरु हाथनीजी बड़ी दीक्षा हुई खास
संवत् सोल अठ्यासियेजी करता योग अभ्यास''

दीक्षा और बड़ी दीक्षा एक वर्ष में संवत् १६८८ में संपन्न हुई एवं दीक्षा के समय उनकी उम्र कमथी ऐसा सुजसवेलीभास के अनुसार प्रतीत होता है। उसमें लिखा है -

'लघुता पण बुद्धि आलगोजी नामे कुंवर जसवंत'

इस पंक्ति से प्रतीत होता है कि दीक्षा के समय उनकी उम्र ८-९ वर्ष की होगी, अतः इस आधार पर इनका जन्म १६७९-८० में होना चाहिए । इनका स्वर्गवास १७४३-४४ में डबोई में हुआ था । इस आधार पर आयुष्य ६४-६५ वर्ष का माना जा सकता हैं ।

इन दोनों श्रोतों में किसको प्रमाण माना जाय, यह एक प्रश्न उपस्थित होता है । चित्रपट के विषय में तो निश्चित है कि, वह उनके गुरु नयविजयजी के द्वारा तैयार की हुई मूल वस्तुओं में से एक है । सुजसवेलीभास के कर्ता ने अपनी हस्तप्रति में अपने हस्ताक्षर नहीं किये हैं । वह प्रति बाद में लिखाई गई प्रतीत होती है । अतः इस नकल में दीक्षा वर्ष लिखने में कोई त्रुटि संभव हो सकती है । इस आधार पर हम चिंतन करे तो चित्रपट की विश्वसनीयता अधिक प्रतीत होती है ।

उपाध्याय यशोविजयजी की साहित्य-साधना

उपाध्याय यशोविजयजी की साहित्य-साधना अनुपम थी । उनके द्वारा सृजित विपुल साहित्य उपलब्ध होता है । उन्होंने जैनधर्म की मूलभूत प्राकृत भाषा में, उस समय में अत्यन्त प्रचलित संस्कृत भाषा में एवं मरुगुर्जर भाषा में अनेको ग्रन्थों का सृजन किया । उन्होंने आगमिक-टीकाओं से लेकर नव्य-न्याय, व्याकरण, साहित्य, अलंकार, छंद, काव्य तर्क, नयप्रमाण, अध्यात्म-तत्त्वज्ञान, आचार, उपदेश, कथा भक्ति तथा सिद्धान्त इत्यादि अनेक विषयों पर कलम चलाई है । संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो उपाध्यायजी की कृतियों की संख्या सैकड़ों में है । ये कृतियाँ आध्यात्मिक और तार्किक दोनों प्रकार की है । इनमें भी कुछ पूर्ण और कुछ अपूर्ण है तथा कितनी ही कृतियाँ आज अनुपलब्ध हैं । स्वयं श्वेताम्बर परम्परा के होते हुए भी उन्होंने दिगम्बराचार्य द्वारा कृत कुछ ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं । जैन मुनि होने पर भी अनेक अजैन ग्रन्थों पर भी उन्होंने टीकाएँ लिखी हैं । यह सब उनकी आग्रहमुक्त विचारधारा का प्रखर प्रमाण है ।

द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका : एक परिचय

उपाध्याय यशोविजयजी की महत्वपूर्ण कृति का नाम है द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, श्लोकों की संख्या के आधार पर ग्रन्थ का नामकरण करने का इतिहास पुराना है । सर्वप्रथम अनेकांत के प्रतिष्ठापक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचित बत्तीस श्लोक की कुछ बत्तीसियाँ प्राप्त होती हैं । आचार्य हरिभद्र महाराज द्वारा रचित अष्टक, पंचाशक, षोडशक, विंशिका आदि कई ऐसे ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनका नामाभिधान विविध श्लोक समूह की संख्या के आधार पर किया गया है । इन्ही का अनुसरण करते हुए यशोविजयजी महाराज ने द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका नामक एक अद्भुत एवं अनुपम ग्रंथ की रचना की है । ग्रन्थ के नामानुसार इन बत्तीस प्रकरणों में बत्तीस-बत्तीस श्लोक हैं, जो बिंदु में सिंधु की तरह होकर ज्ञान का समुद्र है । इस ग्रन्थ में बत्तीस विषयों पर संक्षेप में प्रत्येक विषय पर बत्तीस श्लोकों द्वारा विषयों का सांगोपांग एवं अर्थगंभीर विषद विवरण किया गया है । श्रुतसागर की अगाध जलराशि का मंथन करके निष्पन्न नवनीत को ग्रंथकार ने अपने ग्रंथ में निरुपित किया है । इसमें आगम के गंभीर पदार्थ

योगमार्ग के अतीन्द्रियभाव, दार्शनिक-पदार्थ एवं आचार-संहिता भी समायोजित है । सम्पूर्ण ग्रंथ में सर्वज्ञ कथित अनेक तात्त्विक पदार्थों की तार्किक शैली में निरुपण किया गया है । अनेक आगमग्रंथ, आचार्य हरिभद्रसूरि महाराज द्वारा रचित योगग्रन्थ, महर्षि पतंजलि मुनि रचित पातंजल योगसूत्र आदि अनेक ग्रंथों का उद्धरणपूर्वक अपूर्ण विवरण किया है । उपाध्यायजी ने (१) न्याय, (२) आगम, (३) योग, (४) भक्ति, (५) आचार के विषय में अनेक छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की है, किंतु पांचों विषयों का विस्तार से वर्णन मात्र एक ही ग्रंथ में यदि देखना हो, तो वह ग्रंथ है द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका-प्रकरण ।

द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका प्रकरण ग्रंथ में प्रत्येक द्वात्रिंशिका के नाम -

(१) दान द्वात्रिंशिका, (२) देशना द्वात्रिंशिका, (३) मार्ग द्वात्रिंशिका, (४) जिनमहत्त्व द्वात्रिंशिका, (५) भक्ति द्वात्रिंशिका, (६) साधु-सामग्य्र द्वात्रिंशिका, (७) धर्म-व्यवस्था द्वात्रिंशिका, (८) वाद द्वात्रिंशिका, (९) कथा द्वात्रिंशिका, (१०) योगलक्षण द्वात्रिंशिका, (११) पातंजल योग लक्षण द्वात्रिंशिका, (१२) पूर्व-सेवा द्वात्रिंशिका, (१३) मुक्ति-अद्वेष द्वात्रिंशिका, (१४) अपुनर्बंधक द्वात्रिंशिका, (१५) सम्यग्दृष्टि द्वात्रिंशिका, (१६) ईशानुग्रह विचार द्वात्रिंशिका, (१७) देवपुरुषकार द्वात्रिंशिका, (१८) योगभेद द्वात्रिंशिका, (१९) योग-विवेक द्वात्रिंशिका, (२०) योगावतार द्वात्रिंशिका, (२१) मित्रा द्वात्रिंशिका, (२२) तारादि त्रय द्वात्रिंशिका, (२३) कुतर्कग्रह निवृत्ति द्वात्रिंशिका, (२४) सद्-दृष्टि द्वात्रिंशिका, (२५) क्लेशहानोपाय द्वात्रिंशिका, (२६) योगमहात्म्य द्वात्रिंशिका, (२७) भिक्षु द्वात्रिंशिका, (२८) दीक्षा द्वात्रिंशिका, (२९) विनय द्वात्रिंशिका, (३०) केवली-भुक्ति द्वात्रिंशिका, (३१) मुक्ति द्वात्रिंशिका, (३२) सज्जन स्तुति द्वात्रिंशिका ।

विषयवस्तु के अनुसार विभाजन

द्वात्रिंशिका की भिन्न-भिन्न विषयवस्तु को तीन भागों में विभाजित कर निम्नलिखित क्रम में रखा जा सकता है ।

क्र.	आचार-संबंधी द्वात्रिंशिका	योग संबंधी द्वात्रिंशिका	दार्शनिक मतान्तर एवं समीक्षा संबंधी द्वात्रिंशिका
१.	दान द्वात्रिंशिका	योगलक्षण द्वात्रिंशिका	ईशानुग्रह द्वात्रिंशिका
२.	सज्जन स्तुति द्वात्रिंशिका	पांतजलयोगलक्षण द्वात्रिंशिका	जिन महत्त्व द्वात्रिंशिका
३.	भक्ति द्वात्रिंशिका	योगभेद द्वात्रिंशिका	कुतर्कग्रह निवृत्ति द्वात्रिंशिका
४.	दीक्षा द्वात्रिंशिका	योग विवेक द्वात्रिंशिका	धर्मव्यवस्था द्वात्रिंशिका
५.	विनय द्वात्रिंशिका	योगावतार द्वात्रिंशिका	क्लेशहानोपाय द्वात्रिंशिका
६.	भिक्षु द्वात्रिंशिका	योग माहात्म्य द्वात्रिंशिका	केवली भुक्ति द्वात्रिंशिका
७.	मार्ग द्वात्रिंशिका	पूर्वसेवा द्वात्रिंशिका	मुक्ति द्वात्रिंशिका
८.	साधु सामग्र द्वात्रिंशिका	मुक्ति-अद्वेश द्वात्रिंशिका	-----
९.	देशना द्वात्रिंशिका	अपुनर्बंधक द्वात्रिंशिका	-----
१०.	वाद द्वात्रिंशिका	मित्रा द्वात्रिंशिका	-----
११.	कथा द्वात्रिंशिका	तारादि त्रय द्वात्रिंशिका	-----
१२.	देवपुरुषकार	सम्यग्दृष्टि द्वात्रिंशिका	-----
१३.	-----	सद्दृष्टि द्वात्रिंशिका	-----

मनुष्य जीवन का अंतिम ध्येय तो मुक्ति की प्राप्ति है । आत्मा वस्तुतः परमात्मा का ही आवृत्त या आच्छन्न रूप है । जब तक आत्मा कर्मावरण से लिप्त होती है तब तक वह संसार में परिभ्रमण करती है । आत्मा स्वयं ही कर्म की कर्ता है एवं स्वयं ही उसका फल भोगती है एवं कर्मबन्धन के कारण

भवभ्रमण करती है । जीव अपने पुरुषार्थ से अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिए साधना के अनेक मार्ग है । जैसे- क्रियामार्ग, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, योगमार्म एवं ध्यानमार्ग इत्यादि । आत्म स्वरूप को प्राप्ति के साधनो में एकत्त्व होने पर भी उनमें परस्पर विविधता है । हर एक साधना मार्ग का अपना महत्त्व है । द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका ग्रंथ में इन विविध मार्ग की चर्चा की गई है ।

क्रियामार्ग

आचरण आत्मा का भूषण है । प्राण के बिना मृत शरीर पर आभूषण का कोई औचित्य नहीं है । ज्ञान आचरण में आता है, तभी व्यक्ति आध्यात्मिक मार्ग से आगे बढ़ता है । जो ज्ञान क्रिया में परिणत नहीं होता है, वह ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है । ज्ञान को जानने के साथ-साथ जीना भी है, तभी तो हमारे पूर्वाचार्यों ने पंचाचार के अन्तर्गत ज्ञानाचार को भी स्थान दिया है । ज्ञान का परिपाक क्रिया में होना चाहिए, जो ज्ञान आचरण में नहीं ढलता है, वह ज्ञान मात्र अहंकार को पैदा करता है । जिस प्रकार गर्दभ चंदन का भार तो ढोता है किंतु उसे सुगंध की भागीदारी नहीं होती है । अतः चंदन उसके लिए कोई उपयोगी नहीं बना । ठीक उसी प्रकार व्यक्ति अनेक शास्त्रों का ज्ञान तो प्रासकर लेता है, किंतु यदि आचरण में नहीं लाता है तो वह ज्ञान उसके लिए बोझ रूप बनता है । द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका ग्रंथ में भी कुछ द्वात्रिंशिकाएँ क्रियामार्ग का स्पष्टीकरण करती हैं । उन द्वात्रिंशिकाओं के कुछ अंश इस प्रकार हैं-

भिक्षु द्वात्रिंशिका :-

भिक्षु के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि, भिक्षु वह होता है जो अखंड-निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसके उपायरूप गुरुवचन परतंत्रता उसमें सतत रहती है, जो महाव्रत में सतत रत होते हैं । साधु निमित्त बने आहार का उपयोग नहीं करते हैं, जो कषाय मुक्त होते हैं । वस्तुओं का संग्रह नहीं करते हैं, इन्द्रिय विजेता होते हैं और जिन्हें सत्कार-पूजा की इच्छा नहीं होती है ।

मार्ग द्वात्रिंशिका :-

मोक्षमार्ग दो प्रकार का है- (१) परमात्मा का वचन, (२) संविग्न अशठ गीतार्थ का आचरण । शिष्टाचार (संविग्न-अशठ गीतार्थ का आचरण) भी जिनवचन के समान ही अनुकरणीय है, अतः यदि कोई भगवान के वचनरूप मार्ग को स्वीकार करता है एवं शिष्टाचार को स्वीकार नहीं करता है तो वह जिनवचन रूप मार्ग का अपलाप करता है । जन्मान्ध व्यक्ति के समान अगीतार्थ को मोक्ष मार्ग में चलने के लिए गीतार्थ का आलंबन जरुरी है । स्वच्छंद साधु की आचारशुद्धि डुबानेवाली है । जो वीर्यान्तराय कर्म के उदय के कारण आचार शिथिल है, किंतु श्रद्धा से युक्त है एवं गीतार्थ के वचन का अनुसरण करनेवाले हैं वे संविग्न पाक्षिक हैं । शास्त्रोक्त आचार को यशाशक्ति पालन करने एवं शेष की अनुमोदन रूप इच्छायोग उनके पास होने से उनके प्रतिक्रमणादि आवश्यक योग सफल हैं । किसी भी साधु को शिष्टाचार छोड़कर नए मार्ग की स्थापना करने की भूल कभी भी नहीं करना चाहिए ।

साधु सामग्र द्वात्रिंशिका :-

संयत ऐसे महात्मा ज्ञान से ज्ञानी बनते हैं, भिक्षा के द्वारा भिक्षुक बनते हैं तथा वैराग्य के द्वारा विरक्त बनते हैं । साधु की परिपूर्णता की आधारशिला है- (१) तत्त्वसंवेदन-ज्ञान, (२) सर्वसंपत्करी-भिक्षा, (३) ज्ञानगर्भित-वैराग्य ।

जिस साधु की मन-वचन-काया की प्रवृत्ति राग-द्वेष से आकुल नहीं होने से स्वस्थ है, ऐसे महात्मा को तत्त्वसंवेदन नाम का तृतीय ज्ञान होता है। तत्त्व अर्थात् अनेकान्त से अभिव्यक्त हुआ परमार्थ । जिसमें हेय-उपादेय का संवेदन होता है । छठवें गुणस्थान से सातवें पर तभी आ सकता है जब साधु के पास तत्त्वसंवेदन ज्ञान के संस्कार हो अन्यथा वह पांचवें गुणस्थानक से छठवें गुणस्थान पर आ सकता है, इससे अधिक नहीं; फिर हमेशा के लिए पतित हो जाता है।

सदा अनारंभ का हेतु सर्वसंपत्कारी भिक्षा कही गई है ।

अनेकांत दृष्टि से पदार्थ का यथार्थ बोध होने के कारण चार गति के परिभ्रमणरूप संसार से भयभित जिन मुनि की आत्मा गुप्तिभाव वर्तन करती है ऐसे मुनि का वैराग्य ज्ञानगर्भित वैराग्य कहलाता है । दुःखगर्भित अथवा

मोहगर्भित वैराग्य भी गुणवान गुरु की शरणागति एवं समर्पण से बदलकर ज्ञानगर्भित बन जाता है ।

दीक्षा द्वात्रिंशिका :-

दीक्षा या तो ज्ञानी को होती है, अथवा ज्ञानी गुरु के प्रति समर्पित जीव को होती है । मार्गाभिमुख आदि भद्रपरिणामी मिथ्यादृष्टि जीव भी यदि सद्गुरु के प्रति हमेशा समर्पण भाव रखता है, तो वह भी दीक्षा लेने के योग्य है। जब द्रव्य दीक्षा होती है, तब प्रमुख रूप से उपकार-क्षमा, अपकार-क्षमा और विपाक-क्षमा होती है । भाव दीक्षा में वचन और धर्मक्षमा होती है । द्रव्य दीक्षा में प्रीति अनुष्ठान और असंग अनुष्ठान होता है । तथा भाव दीक्षा में वचन अनुष्ठान और असंग अनुष्ठान होता है । शरीरादि से आसक्त जीव निर्दोष गौचरी के लिए एकल विहारी होते हुए भी कषायादि के साथ है । इसके विपरीत, समुदाय के बीच देह-ध्यास से मुक्त साधु परमार्थ से एकाकी है ।

भक्ति मार्ग

परमात्मा की भक्ति से हमारा जीवन ऊँचा उठता है । भक्ति तो परमात्मा से जुड़ने का श्रेष्ठ माध्यम है । भक्त शब्द का अर्थ ही होता है जुड़ना । जब तक जीव परमात्मा से अलग रहा विभक्त रहा तब तक भटकता, रहा संसार समुद्र में गोते लगाता रहा । जैसे ही परमात्मा रूपी नाव को पकड़ा, उससे जुड़ गया वैसे ही वह किनारे की ओर आगे बढ़ने लगा । जीव ने इस संसार में जुड़ान तो बहुत बार किया है । किन्तु वह जुड़ान हमेशा भौतिक पदार्थों के साथ किया है । यदि हमे अपने अंदर रहा भगवद् भाव प्रकट करना है तो परमात्मा से जुड़ना बहुत जरुरी है । हम गुणवान से जुड़ते है तो हमे हमारी गुणवत्ता को प्रकट करने का, उसे उद्घाटित करने का सहज अवसर मिलता है । सच्ची भक्ति वही है जिसमें हमारे भीतर गुणो को देखने की दृष्टि हो। गुणों की ओर हमारा ध्यान होगा तो हम शीघ्र ही अपने अंतरंग की निर्मल अवस्था से जुड़ेंगे । द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका ग्रंथ में कुछ द्वात्रिंशिकाएँ है जो भक्तिमार्ग को इंगित करती है । उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं

सज्जनस्तुति द्वात्रिंशिका :-

सज्जन-साधु-संत के प्रति जब तक द्वेष रहता है, तब तक परममुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है । सज्जन के गुणों के प्रति अनुराग होने से, उनकी स्तुति प्रशंसा करने से गुणमत्सर दूर होता है, गुण प्राप्ति का अंतराय दूर होता है, जीव गुण वैभव को प्राप्त करके मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ता है ।

भक्ति द्वात्रिंशिका :-

परमात्मा की भक्ति सर्व विरतिधर को पूर्ण होती है, क्योंकि वे परमात्मा के वचनानुसार पूर्ण आचरण करते हैं, जबकि गृहस्थ को द्रव्यस्तव होने से आंशिक भक्ति होती है । भक्ति के अन्तर्गत श्रावक को प्रभु की जल, चंदन, विलेपन, धूप, फल आदि उत्तम द्रव्यों से पूजा करना चाहिए, किंतु साधु के लिए पाप-प्रवृत्ति का सम्पूर्ण त्याग होने से द्रव्यपूजा का निषेध है । जिनालय का निर्माण करना गृहस्थ द्वारा की जाने वाली भक्ति का एक प्रकार है ।

विनय द्वात्रिंशिका :-

विनय ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को दूर करता है तथा मोक्षदायक धर्मवृक्ष का मूल है । विनय से ही सम्यग् ज्ञान प्राप्त होता है, आचरण में आता है तथा वृद्धि को प्राप्त होता है । दीक्षा पर्याय छोटे होने पर भी ज्ञानी ऐसे साधु के पास पढ़ने के पहले उनका वंदन स्वरूप विनय करना चाहिए । शास्त्र के विशिष्ट ज्ञानी ऐसे शिथिलाचारी साधु के पास सकारण ज्ञान प्राप्ति का अवसर आए तो वंदनादि विनय अपवाद स्वरूप किया जा सकता है । विनय का फल स्पर्शज्ञान है । वह समाधि वाले चित्त में पैदा होता है । विनय समाधि चार प्रकार की है । गुरु के अनुशासन और वचन को- (१) सुनना, (२) स्वीकारना, (३) आचरण करना एवं (४) निरभिमानता रखना । ऐसी समाधि से स्पर्शज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् जीव को हेय-उपादेय का अभ्रान्त स्पष्ट बोध होता है, वह बोध संवेदनात्मक होता है, मात्र जानकारी स्वरूप नहीं । स्पर्शज्ञान के प्रताप से अल्पसमय में परमात्म स्वरूप को प्राप्त करता है ।

ज्ञान मार्ग

ज्ञान को आत्मा का नेत्र कहा गया है । जैसे नैत्र विहीन व्यक्ति के

लिए सारा संसार अंधकारमय है, उसी प्रकार ज्ञान विहीन व्यक्ति संसार के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है । आत्मिक जीवन की पूर्णता प्राप्त करने के लिए प्रथम सीढ़ी ज्ञान है । जीवन की समस्त उलझने, अशांति, सुख-दुःख, राग-द्वेष इन सभी का मूल कारण ज्ञान का अभाव ही है । जीवन तब ही सार्थक हो सकता है जबकी उसकी गति, उसकी दिशा और उसका पथ सही हो और इनका सम्यक् निर्धारण ज्ञान के द्वारा ही किया जा सकता है । सूचनात्मक ज्ञान वस्तुतः ज्ञान की श्रेणी में नहीं आता है । यहाँ जिस ज्ञान की चर्चा की जा रही है, वह ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान है और मोक्ष मार्ग से जोड़नेवाला है । शास्त्रज्ञान भी शाब्दिक ज्ञान है, बाह्य है, जबकि अनुभूति ज्ञान अन्तरंग है । उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में कहा है- "शास्त्र सिर्फ मार्ग दिखाने का काम करता है, लेकिन मार्ग दिखाने के बाद वह साधक के साथ एक कदम भी नहीं चलता है, जबकि अनुभव ज्ञान तो जब तक केवलज्ञान नहीं हो, तब तक साधक का सानिध्य नहीं छोड़ता है ।"

योगभेद द्वात्रिंशिका में कहा है कि, प्रातिभज्ञान या अनुभवज्ञान को ही ज्ञानयोग कहा है । ज्ञानयोग का अर्थ है कि, आत्मज्ञान में रमणता । ज्ञानयोग से ही समता और समाधि की प्राप्ति होती है । इसी द्वात्रिंशिका में ज्ञान भावना का स्वरूप बताते हुए कहा है कि, ज्ञेय का ज्ञान करना जीव का पारमार्थिक स्वभाव है, किंतु ज्ञेय पदार्थों को जानने की उत्सुकता रखना तथा जानने के पश्चाद् रागादि भाव करना यह जीव का ज्ञान स्वभाव नहीं है । इस प्रकार सूक्ष्मबुद्धि से ज्ञान के स्वभाव का चिंतन करके ज्ञान भावना से आत्मा को भावित करने से निर्मल कोटि का ज्ञान प्राप्त होता है ।

योग मार्ग

योग शब्द का अर्थ है जोड़ना । आचार्य हरिभद्रसूरिजी के अनुसार योग मोक्ष के साथ जोड़ने वाला है । प्रस्तुत ग्रन्थ में उपाध्याय यशोविजयजी ने भी आचार्य हरिभद्रसूरिजी का अनुशरण करते हुए कहा है- मोक्ष के हेतुभूत प्रवृत्ति योग है । पातंजल योग सूत्र के अनुसार चित्तवृत्ति का निरोध योग है । निरोध शब्द यहाँ विशेषतः एकाग्रता के अर्थ में है । मोक्ष की यात्रा में चित्तवृत्तियों को नियंत्रित करना आवश्यक होता है । योग आन्तर साम्राज्य पर अधिकार पाने का वह पवित्र राजपथ है, जहाँ सारे अन्तर्विकार नष्ट हो जाते हैं । योग

भेद द्वात्रिंशिका में पांच प्रकार के योग बताए गए हैं । (१) अध्यात्मयोग, (२) भावनायोग, (३) ध्यानयोग, (४) समतायोग एवं (५) वृत्तिसंक्षययोग ।

अध्यात्मयोग :-

चारित्रशुद्धि के लिए अध्यात्मयोग के अनुष्ठान की नितान्त आवश्यकता रहती है । इसमें जीव का अणुव्रत अथवा महाव्रत आदि का ग्रहण औचित्य पूर्ण होता है । तत्त्वचिंतन आगमानुसार होता है । साथ ही योगी का तत्त्वचिंतन शुष्क नहीं अपितु मैत्र्यादिभावों से स्निग्ध होता है । अतः उनका चित्त अत्यंत संवेगवाला होता है । यहाँ अध्यात्मयोग के तत्त्वचिंतन के विशेषण में बताए गए औचित्य, वृत्तसमवेतत्त्व, आगमानुसारित्व एवं मैत्र्यादिभावना से युक्त, ये चारों विशेषण बड़े ही महत्त्व के हैं । इन पर विचार करने से अध्यात्मयोग का वास्तविक रहस्य भलिभांति समझ में आ जाता है ।

भावनायोग :-

वृद्धिगत ज्ञान के अनुगत अध्यात्म का अभ्यास भावनायोग है अर्थात् कोई साधक शास्त्रानुसार तत्त्व का चिंतन करके अध्यात्म को प्रकट करता है । ज्ञान से युक्त पुनः पुनः अध्यात्म का अभ्यास करने से उत्तरोत्तर आत्मिक भाव में आत्मा का निवेश होता है । इस प्रकार अध्यात्म के अभ्यास को भावना कहा जाता है ।

भावनायोग का साधक पांच भावनाओं से अपने चित्त को संस्कारित करता है । वे भावनाएँ हैं- ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वैराग्य ।

ध्यानयोग :-

भावनायोग से संपन्न योगी ध्यान में यत्न करते हैं, उपयोग में विजातीय प्रत्यय का व्यवधान न हो ऐसा स्थिर प्रशस्त एक विषयक बोध ध्यान कहा जाता है, वह सूक्ष्म उपयोग युक्त होता है । यह ध्यान चार विशेषण से युक्त है

(१) स्थिर दीपशिखा के सदृश :- ध्यान में उपयोग प्रदीप सम धारालग्न होता है, इसमें ज्ञानधारा खण्डित नहीं होती हैं ।

(२) विजातीय प्रत्यय अव्यवधान वाला :- ज्ञान का जो उपयोग है वह विजातीय

प्रत्यय के व्यवधान वाला नहीं है, अर्थात् ज्ञान का उपयोग विषयांतर नहीं होता है ।

(३) प्रशस्त एकार्थ बोधवाला :- जिन प्रतिमा, आत्मस्वरूप जीवादि पदार्थ आदि प्रशस्त आलंबन को लेकर अस्खलित उपयोग की धारा ही ध्यानयोग हैं ।

(४) सूक्ष्म आलोचन से युक्त :- ध्यान में उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य स्वरूप का अखंड उपयोग चलता है ।

वृत्तिसंक्षययोग :-

आत्मभिन्न पदार्थ से उत्पन्न होनेवाले विकल्प तथा स्पंदन स्वरूप वृत्ति पुनः उत्पन्न न हो, इस प्रकार से त्याग वृत्तिसंक्षय योग कहा जाता है । आत्मा का मूलभूत स्वरूप निस्तरंग समुद्र के समान है । समुद्र से भिन्न ऐसी पवन के द्वारा समुद्र में तरंग उत्पन्न होती है उसी प्रकार आत्मा से भिन्न ऐसे मनद्रव्य के संयोग से विकल्प रूप वृत्ति उठती है एवं शरीर द्रव्य के संयोग से स्पंदनरूप वृत्ति उठती है । ये वृत्तियाँ पुनः उत्पन्न न हो इस प्रकार निरोध करना वृत्तिसंक्षय योग है।

समतायोग :-

निश्चयदृष्टि के पर्यालोचन से जब विवेकवृद्धि स्थिर होती है, तब बाह्य पदार्थ में इष्ट अनिष्ट बुद्धि का परिहार होता है, जिससे आत्मा में विकल्पों का उपद्रव शांत होता है, जीव को शांतस्वरूपज्ञान का परिणाम अनभूत होता है ।

पू. आ. भुवनभानुसूरि समुदाय के पू. आ. यशोविजयजी म. ने द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका ग्रंथ का बहुत ही सुंदर परिचय इसी ग्रंथ पर संस्कृत भाषा में रचित अपनी नयलताटीका की प्रस्तावना में इस प्रकार दिया हैं-

(१) यह एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें बोद्धदर्शन के न्याय, नैयायिक दर्शन के न्याय और जैन दर्शन के न्याय का एक साथ निरूपण उपलब्ध होता है।

(२) यह एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें प्राचीन न्याय और नव्यन्याय दोनों की परिभाषाओं का और दोनों की शैली का प्रयोग देखने को मिलता है।

(३) यह एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें आगमिक-पदार्थों को भी नव्यन्याय की परिभाषा में परिष्कृत करके प्रस्तुत किया हैं ।

(४) इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि हारिभद्रीय-योगवांङ्मय के पदार्थों का तथा पातंजलयोगदर्शन के योग संबंधी पदार्थों का तर्कबद्धरूप से, संकलन रूप से, समावतार रूप से एवं संवादी रूप से वर्णन किया है ।

(५) तर्क-युक्ति-नय-प्रमाण का व्यापक रूप से उपयोग करने पर भी इस महाग्रंथ में श्रद्धाप्रधान भक्तिमार्ग का, उपासना-मार्ग का भी प्रमुख रूप से मूल्यांकन किया है ।

(६) श्रावक जीवन का जिनालय- जिनबिंब आदि आचार, साधु जीवन का संर्वसंपत्करी भिक्षा परिषह विजय- उग्रसंयमचर्या आदि आचार, योग की पूर्वसेवा का आचार, योगमार्ग में प्रवेश के पश्चात् का आचार आदि का भी विशद और विशिष्ट वर्णन इस ग्रंथ में देखने को मिलता है ।

(७) मात्र पूर्व के ग्रंथों के विशिष्ट पदार्थों का चयन ही नहीं, बल्कि विशदीकरण और वैशिष्ट्यकरण भी इस ग्रंथ में किया गया हैं । ऐसी अन्य अनेक विशेषताओं के कारण यह महाग्रंथ वर्षों से अनेक विज्ञ वाचकों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ हैं ।

द्वात्रिंशिका के मूल श्लोक के रूप में कई स्थानों पर योगबिन्दु, योगशास्त्र, योगदृष्टिसमुच्चय, षोडशक आदि स्वदर्शन के ग्रंथों के श्लोकों को उद्धत किया गया है । कहीं-कहीं मनुस्मृति, गोपेन्द्राचार्य, महर्षि पतंजलि आदि अन्य दर्शन के ग्रन्थों के श्लोकों को मूल ग्रन्थ में श्लोक के रूप में लिया है । इसी प्रकार ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति आदि की प्राकृत गाथाओं की संस्कृत-छाया जैसा करके मूल ग्रंथ में श्लोकरूप में निबद्ध किया है।

द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका पर स्वोपज्ञटीका-तत्त्वार्थदीपिका

द्वात्रिंशिका-प्रकरण की मूल रचना करने के बाद उपाध्यायजी ने उसमें निहित पदार्थ और परमार्थ को प्रकट करनेवाली तत्त्वार्थदीपिका नाम की स्वोपज्ञटीका की रचना की है । इस स्वोपज्ञवृत्ति की रचना-शैली को देखने पर ऐसा लगता है कि ग्रंथ के मूल श्लोक के प्रत्येक पद का विवेचन करने के स्थान पर दुर्गम-दुर्बोध शब्दों का ही स्पष्टीकरण करने का मुख्य लक्ष्य रखा है । इसके कारण निम्नवत् हैं -

(१) बहुत से स्थानों पर श्लोकों की अवतरणिका भी नहीं है ।

(२) १६७ श्लोक के लिए 'सुगम-स्पष्ट' इतना ही उल्लेख करके उसकी व्याख्या नहीं की है ।

(३) कई बार श्लोकों का स्वयं विवेचन करने के बदले योगदृष्टिसमुच्चय-वृत्ति एवं योगबिन्दु-वृत्ति आदि का शब्दशः अनुसरण किया है, विशेषकर बीसवीं एवं चौबीसवीं द्वात्रिंशिका में यह अधिक देखने में आया है ।

(४) कहीं-कहीं अष्टक वृत्तिकार आदि के अभिप्राय पर मीमांसा भी की है।

संक्षेप में, कहीं टीकारूप में, तो कहीं पंजिकारूप में, कहीं विषमपद टिप्पण के रूप में तो कहीं वार्त्तिक रूप में, कहीं बालावबोध रूप में तो कहीं निर्युक्ति रूप में द्वात्रिंशिका की स्वोपज्ञवृत्ति रची गई है । श्री हरिभद्रसूरिजी के योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिंदु, अष्टक, षोडशक, विंशिका प्रकरण, पंचाशक आदि ग्रंथों का चिंतन-मनन-दोहन करके उपाध्याय यशोविजयजी ने उन सभी तथ्यों का स्वयं के अनेक ग्रंथों में पारदर्शक विवेचन किया है । उन सभी ग्रंथों के दोहनरूप एक ग्रंथ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका की टीका के रूप में हैं ।

द्वात्रिंशिका प्रकरण के पूर्व प्रकाशन :-

(१) सर्वप्रथम जैन धर्म प्रसारक सभा-भावनगर की ओर से द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका प्रकरण की प्रति विक्रम संवत् १९६६ में प्रकाशित हुई, जिसमें कुल १८९

पृष्ठ थे ।

(२) तत्पश्चात् सुधार के साथ ई.स. १९८१ में रतलाम (म.प्र.) से द्वात्रिंशिका प्रताकार में प्रकाशित हुई ।

(३) पूज्य आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी म.सा. द्वारा रचित नूतन संस्कृत टीका एवं गुजराती विवेचन के साथ प्रथम दान द्वात्रिंशिका वि.सं. २०४५ में श्रुतज्ञान प्रसारक सभा-अमदाबाद द्वारा पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई थी । उसमें कुल पृष्ठ १२२ हैं ।

(४) तत्पश्चात् वि.सं. २०५१ में यशोवाणी नाम की एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित हुई थी, जिसमें प्रथम-द्वितीय एवं आधी तृतीय इस प्रकार कुल ढाई द्वात्रिंशिका गुजराती विवेचन के साथ प्रकाशित की गई थी । यह श्री भुवन-भद्रंकर साहित्य प्रचार केन्द्र-मद्रास से प्रकाशित हुई, जिसके लेखक श्री भद्रंकरसूरिजी महाराज है । इसमें कुल ५९ पृष्ठ हैं ।

(५) पू. आ. भुवनभानुसूरि समुदाय के पूज्य आ. अभयशेखरजी महाराज द्वारा लिखित बत्रीशी ना अजवाला पुस्तक दिव्यदर्शन धोलका द्वारा प्रकाशित की गई है ।

(६) पूज्य विश्वकल्याणविजयजी म.सा. के द्वारा द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका ग्रन्थ संस्कृत में आठ भाग में दिव्यदर्शन धोलका द्वारा प्रकाशित किया गया है ।

(७) उसके बाद अनेकान्त प्रकाशन जैन रिलिजियस द्वारा विक्रम संवत् २०५८ में प्रत्येक द्वाक्रत्रिंशिका पर छोटी-छोटी पुस्तके प्रकाशित की गई । पू.आ. रामचन्द्रसूरि समुदाय के पू. आ. चन्द्रगुप्तसूरिजी म.सा. ने मूल गाथा पर गुजराती में विवेचन किया है ।

(८) पू. आ. भुवनभानुसूरि समुदाय के पू. आ. यशोविजयजी म. ने इस द्वात्रिंशिका ग्रंथ पर नयलता नामक संस्कृत टीका की रचना की है । गुजराती विवेचन सहित आठ भाग में इसका प्रकाशन किया गया है। दिव्यदर्शन ट्रस्ट धोलका द्वारा वि.सं. २०६२ में यह प्रकाशित हुई है ।

(९) पंडितवर्य श्री प्रवीणचंद्र खीमजी मोता ने प्रत्येक द्वात्रिंशिका पर विवेचन

कर बत्तीस पुस्तकों का लेखन किया, जो गीतार्थगंगा अहमदाबाद ट्रस्ट से वि.स. २०६१ में प्रकाशित की गई ।

इस कार्य में गुरुजनों की कृपा मेरे लिए सम्बल रूप रही है । मैं उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञता अभिव्यक्त करती हूँ ।

मूर्धन्यविद्वान डॉ. सागरमलजी जैन (शाजापुर, म.प्र.) के प्रति मैं प्रमोदभाव व्यक्त करती हूँ कि, जिनकी प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर मैंने द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद का कार्य प्रारंभ किया । मैंने यह कार्य पूर्ण जागृति के साथ किया है, फिरभी स्खलना होना संभव है। प्रबुद्ध पाठकगण इस हेतु सूचित करें तथा इस ग्रन्थ का स्वध्याय कर अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करें किं बहुना।

- सा. रुचिदर्शनाश्रीजी

अनुक्रमणिका

क्रम	विगत	पृष्ठ
०१	दानद्वात्रिंशिका	०१
०२	देशनाद्वात्रिंशिका	०७
०३	मार्गद्वात्रिंशिका	१३
०४	जिनमहत्त्व द्वात्रिंशिका	१९
०५	भक्तिद्वात्रिंशिका	२५
०६	साधु सामग्र्यद्वात्रिंशिका	३१
०७	धर्मव्यवस्थाद्वात्रिंशिका	३७
०८	वादद्वात्रिंशिका	४३
०९	कथाद्वात्रिंशिका	४९
१०	योगलक्षणद्वात्रिंशिका	५५
११	पातञ्जलयोगलक्षण द्वात्रिंशिका	६१
१२	पूर्वसेवा द्वात्रिंशिका	६७
१३	मुक्ति अद्वेषप्राधान्यद्वात्रिंशिका	७३
१४	अपुनर्बन्धक द्वात्रिंशिका	७९
१५	सम्यग्दृष्टिद्वात्रिंशिका	८५
१६	ईशानुग्रविचार द्वात्रिंशिका	९१
१७	दैव-पुरुषकार द्वात्रिंशिका	९७
१८	योगभेद द्वात्रिंशिका	१०३
१९	योगविवेक द्वात्रिंशिका	१०९
२०	योगावतार द्वात्रिंशिका	११५
२१	मित्राद्वात्रिंशिका	१२१
२२	तारादित्रयद्वात्रिंशिका	१२७
२३	कुतर्कग्रहनिवृत्तिद्वात्रिंशिका	१३३
२४	सद्दृष्टि द्वात्रिंशिका	१३९
२५	कलेशहानोपायद्वात्रिंशिका	१४५
२६	योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका	१५१

२७ भिक्षुद्वात्रिंशिका १५७

२८ दीक्षाद्वात्रिंशिका १६३

२९ विनय द्वात्रिंशिका १६९

३० केवलिभुक्तिव्यवस्थापन द्वात्रिंशिका १७५

३१ मुक्तिद्वात्रिंशिका १८१

३२ राज्जनस्तुति द्वात्रिंशिका १८७

दानद्वात्रिंशिका - ०१

ऐन्द्रशर्मप्रदं दानमनुकम्पासमन्वितम् ।
भक्त्या सुपात्रदानं तु मोक्षदं देशितं जिनैः ।।१।।

अनुकंपा से युक्त दान तो इन्द्र के सुखों को उपलब्ध कराता है । किंतु भक्तिपूर्वक दिया गया सुपात्र दान तो मोक्ष को उपलब्ध कराता है, इस प्रकार जिनेश्वर परमात्माओं ने कहा है ।

अनुकम्पानुकम्प्ये स्याद् भक्तिः पात्रे तु सङ्गता ।
अन्यथाधीस्तु दातॄणामतिचारप्रसञ्जिका ।।२।।

अनुकंपा के योग्य व्यक्ति के लिए अनुकंपा दान उचित है किंतु भक्तिपूर्वक दान सुपात्र के लिए उचित है । इससे विपरीत बुद्धि दातार को अतिचार रूपी दोष की प्रदायिका है ।

तत्राद्या दुःखिनां दुःखोद्दिधीर्षाल्पाऽसुखश्रमात् ।
पृथिव्यादौ जिनार्चादौ यथा तदनुकम्पिनाम् ।।३।।

वहाँ अनुकंपा से कुछ जीवों को दुःख हो सकता है किंतु उसमें प्रयत्नपूर्वक अधिकांश दुखियों के दुःखों को दूर करने की इच्छा होती है । जैसे कि, जिनपूजा आदि में पृथ्वीकायआदि जीवों पर अनुकम्पा करनेवाले अनेक जीवों (श्रमण-श्रावक) के कल्याण की इच्छा होती है ।

स्तोकानामुपकारः स्यादारम्भाद्यत्र भूयसाम् ।
तत्रानुकम्पा न मता यथेष्टापूर्त्तकर्मसु ।।४।।

जिस अनुकम्पा में अधिक जीवों की हिंसा से अल्प जीवों का उपकार होता है, वैसी अनुकम्पा स्वीकृत नहीं है । जैसे इष्टपूर्त्ति (इच्छित फल प्रासी) रूप यज्ञादि कार्यों में की गई अनुकम्पा मान्य नहीं है ।

पुष्टालम्बनमाश्रित्य दानशालादिकर्म यत् ।
तत्तु प्रवचनोन्नत्या बीजाधानादिभावतः ।।५।।
बहूनामुपकारेण नानुकम्पानिमित्ततताम् ।
अतिक्रामति तेनात्र मुख्यो हेतुः शुभाशयः ।।६।।

पुष्टालंबन का आश्रय करके दानशाला आदि जो कार्य किये जाने है वे

शासन प्रभावना के द्वारा, बीजाधान रूप सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति का हेतु है। अतः बहुत जीवों का उपकार करने से अनुकम्पाके निमित्त का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है । क्योकि वहाँ मुख्य हेतु शुभाशय है ।

क्षेत्रादि व्यवहारेण दृश्यते फलसाधनम् ।
निश्चयेन पुनर्भावः केवलः फलभेदकृत् ।।७।।

व्यवहार नय से पात्रादि की अपेक्षा से दान का फल प्राप्त होता है । निश्चय से तो केवल भाव ही फल प्राप्ति का कारण है ।

कालेऽल्पमपि लाभाय नाकाले कर्म बह्वपि ।
वृष्टौ वृद्धिः कणस्यापि कणकोटिर्वृथान्यथा ।।८।।

उचित समय पर अल्प क्रिया भी लाभदायक होती है, अनुचित अवसर पर बहुत क्रिया भी लाभदायक नहीं होती है । जैसे वर्षाऋतु में एक कण भी वृद्धि को प्राप्त करता है । वर्षारहित काल में करोड़ो दाने भी व्यर्थ नष्ट हो जाते है ।

धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं दानस्य भगवानपि ।
अत एव व्रतं गृह्णन् ददौ संवत्सरं वसु ।।९।।

दान, धर्म का अङ्ग है यह स्पष्ट करने के लिए दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व भगवान ने भी एक वर्ष तक दान दिया।

साधुनापि दशाभेदं प्राप्यैतदनकम्पया ।
दत्तं ज्ञाताद् भगवतो रङ्कस्येव सुहस्तिना ।।१०।।

साधु भी स्थितिविशेष उपस्थित होने पर अनुकम्पा से दान दे सकते है। जिस प्रकार भगवान् ने ब्रांह्मण एवं आर्य सुहस्ति महाराज ने भिखारी को अनुकम्पा से दान दिया ।

न चाधिकरणं ह्येतद्विशुद्धाशयतो मतम् ।
अपि त्वन्यद्गुणस्थानं गुणान्तरनिबन्धनम् ।।११।।

उपरोक्त दान अधिकरण अर्थात् पाप के निमित्त के रूप में मान्य नहीं है, क्योंकि वह (दान) विशुद्ध आशय से हुआ है । जो अन्यगुणों का निमित्त बनता है वह उपर के गुणस्थान का कारण है ।

वैयावृत्ये गृहस्थानां निषेधः श्रूयते तु यः ।
स औत्सर्गिकतां बिभ्रन्नैतस्यार्थस्य बाधकः ।।१२।।

गाथार्थ : गृहस्थों की वैयावृत्त्य का जो निषेध सुनने में आता है वह उत्सर्ग मार्ग के आधार पर है । इसलिए प्रस्तुत अर्थ के बाधक नहीं है ।

ये तु दानं प्रशंसन्तीत्यादिसूत्रेऽपि सङ्गतः ।
विहाय विषयो मृग्यो दशाभेदं विपश्चिता ।।१३।।

जो अनुकंपादान की प्रशंसा करते हैं इत्यादि सूत्रकृतांगसूत्र में बताया है, किंतु वह पुष्टालंबन स्वरूप दशाविशेष को छोड़कर अन्य विषय में होने से बुद्धिमान को विचारणा चाहिए ।

नन्वेवं पुण्यबन्धः स्यात्साधोर्न च स इष्यते ।
पुण्यबन्धान्यपीडाभ्यां छन्नं भुङ्क्ते यतो यतिः ।।१४।।

यदि इस रीति से दान दिया जाये तो साधु को पुण्यबन्ध होगा, किंतु वह साधु को इष्ट नहीं है क्योंकि पुण्यबन्ध और अन्य को पीड़ा न हो इस हेतु से तो साधु प्रच्छन्न (एकान्त में) भोजन करते है ।

दीनादिदाने पुण्यं स्यात्तददाने च पीडनम् ।
शक्तौ पीडाऽप्रतीकारे शास्त्रार्थस्य च बाधनम् ।।१५।।

(इस श्लोक में ग्रन्थकार ने साधु के एकान्त में भोजन करने का कारण बताया है ।)

दीन-हीन आदि लोगों को दान देने पर पुण्य का अनुबंध होता है तथा नहीं देने पर तो दीन-दुःखियों को पीड़ा होती है । शक्ति के होने पर भी उनकी पीड़ा का प्रतिकार न करना शास्त्रविधि का बाधक है ।

किं च दानेन भोगाप्तिततो भवपरम्परा ।
धर्माधर्मक्षयान्मुक्तिर्मुमुक्षो र्नेष्टमित्यदः ।।१६।।

साधु के द्वारा अनुकम्पा दान न देने का कारण बताते हुए ग्रंथकार आगे कहते है- दान से भोगों की प्राप्ति होती है और उससे भव की परम्परा बनती है । मोक्ष तो पुण्य और पाप के क्षय से होता है । इसलिए मुमुक्षु को अनुकम्पा दान इष्ट नहीं है ।

नैवं यत्पुण्यबन्धोऽपि धर्महेतुः शुभोदयः ।
वह्नेर्दाह्यं विनाश्येव नश्वरत्वात्स्वतो मतः ।।१७।।

उपरोक्त कथन को अस्वीकार करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि, शुभ उदयवाला पुण्यबंध भी धर्म का हेतु माना गया है । जिस प्रकार अग्नि ईंधन को जलाकर स्वतः नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार पुण्य के विषय में समझना, अर्थात् पुण्य स्वतः निर्जरित होता है उसे क्षय करने के लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ आवश्यक नहीं है ।

भोगाप्तिरपि नैतस्मादभोगपरिणामतः ।
मन्त्रितं श्रद्धया पुंसां जलमप्यमृतायते ।।१८।।

अपवादिक स्थिति में साधु द्वारा जो अनुकम्पा दान से पुण्यानुबंधी पुण्य - बंधता है उसके विषय में ग्रंथकार कहते है कि उसके विपाक की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि उसमें अभोग के परिणाम रहे हुए हैं । जैसे श्रद्धा द्वारा मन्त्रित किया हुआ पानी भी लोगों को अमृत का काम करता है ।

न च स्वदानपोषार्थमुक्तमेतदपेशलम् ।
हरिभद्रो ह्यदोऽभाणीद् यतः संविग्नपाक्षिकः ।।१९।।

आचार्य हरिभद्र ने अनुकम्पा दान दिया और उसका समर्थन किया वह ठीक नहीं है, इस टिप्पणी के प्रत्योत्तर में ग्रन्थकार कहते है कि- इस प्रकार कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आचार्य हरिभद्र संविग्नपाक्षिक थे और उन्होंने उपरोक्त बात को निश्चित रीति से बताया है ।

भक्तिस्तु भवनिस्तारवाञ्छा स्वस्य सुपात्रतः ।
तथा दत्तं सुपात्राय बहुकर्मक्षयक्षमम् ।।२०।।

सुपात्र दान से स्वयं को संसार से तिरने की भावना करनी भक्ति है । इस प्रकार की भक्ति से सुपात्र को दिया गया दान बहुत कर्मों को नष्ट करने में समर्थ है ।

पात्रदानचतुर्भङ्ग्यामाद्यः संशुद्ध इष्यते ।
द्वितीये भजना शेषावनिष्टफलदौ मतौ ।।२१।।

पात्रदान की चतुर्भंगी में पहला भंग अत्यन्त शुद्ध माना गया है । दूसरे भंग में विकल्प है । शेष दो भंग अनिष्ट फलदायी माने गये हैं।

शुद्धं दत्त्वा सुपात्राय सानुबन्धशुभार्जनात् ।
सानुबन्धं न बध्नाति पापं बद्धं च मुञ्चति ।।२२।।

सुपात्र को शुद्ध दान देकर सानुबंध शुभकर्म का अर्जन करता है । अतः दाता सानुबंध पाप का बंध नहीं करता है तथा पूर्व में बंधा हुआ पाप भी छोड़ता है ।

भवेत्पात्रविशेषे वा कारणे वा तथाविधे ।
अशुद्धस्यापि दानं हि द्वयोर्लाभाय नान्यथा ।।२३।।

पात्र-विशेष अथवा उस प्रकार का कोई कारण उपस्थित होने पर दोषित दान भी दोनों (दाता-ग्राहक) के लाभ के लिए होता है । किंतु अन्य समान्य स्थिति में नहीं ।

अथवा यो गृही मुग्धो लुब्धकज्ञातभावितः ।
तस्य तत्स्वल्पबन्धनाय बहुनिर्जरणाय च ।।२४।।

अवथा जो गृहस्थ मुग्ध हो लुब्धक दृष्टांत से भावित हो उसको अनेषनीय सुपात्र दान से अल्प पाप कर्म का बन्ध और बहुत निर्जरा होती है।

इत्थमाशयवैचित्र्यादत्राल्पायुष्कहेतुता ।
युक्ता चाशुभदीर्घायुर्हेतुता सूतदर्शिता ।।२५।।

इस प्रकार आशयभेद से अशुद्ध सुपात्र दान के प्रसंग में आगम में बताया गया अल्पशुभायु एवं दीर्घअशुभायु बंध युक्ति संगत है ।

यस्तूत्तरगुणाशुद्धं प्रज्ञासिगोचरं वदेत् ।
तेनात्र भजनासूत्रं दृष्टं सूत्रकृते कथम् ।।२६।।

कोई व्यक्ति इस प्रकार कहता है कि भगवतीसूत्र में उत्तरगुण से अशुद्ध ऐसे आहार आदि के आश्रय से बहुनिर्जरा बताई गई है । उस व्यक्ति ने सूत्रकृतांग में विकल्प सूत्र किस प्रकार देखा ?

शुद्धं वा यदशुद्धं वाऽसंयताय प्रदीयते ।
गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्मबन्धकृन्नानुकम्पया ।।२७।।

असंयत को सद्गुरु की बुद्धि से शुद्ध अथवा अशुद्ध जो आहार आदि दिया जाता है वह दाता को कर्मबन्ध करवाने वाला है । अनुकम्पा से दिया

गया दान कर्मबन्ध नहीं करवाता है ।

दोषपोषकतां ज्ञात्वा तामुपेक्ष्य ददज्जनः ।
प्रज्वाल्य चन्दनं कुर्यात्कष्टामङ्गारजीविकाम् ।।२८।।

अतः पात्रं परीक्षेत दानशौन्डः स्वयं धिया ।
तत् त्रिधा स्यान्मुनिः श्राद्धः सम्यग्दृष्टिस्तथापर ।।२९।।

असंयत पोषक रूप दोष को जानकर उसकी उपेक्षा करके असंयत को साधुत्व की बुद्धि से दान देने वाला दाता सम्यक्त्व और गुणरुचि आदि स्वरूप चंदन की लकड़ी को जलाकर दुःखदायी पापपक्षपात आदि रूप कोयले की आजीविका करता है । इस कारण से दाता को स्वयं ही पात्र की परीक्षा करनी चाहिए । वे पात्र तीन प्रकार के है - (१) मुनि, (२) श्रावक और (३)-सम्यग्दृष्टि।

एतेषां दानमेतत्स्थगुणानामनुमोदनात् ।
औचित्यानतिवृत्त्या च सर्वसम्पत्करं मतम् ।।३०।।

इन तीनों सुपात्र को दिया गया दान उनमें रहे गुणों की अनुमोदना करने से तथा औचित्य का अतिक्रमण नहीं करने से "सर्व संपत्कर दान" माना गया है ।

शुभयोगेऽपि यो दोषो द्रव्यतः कोऽपि जायते ।
कूपज्ञातेन स पुनर्नानिष्टो यतनावतः ।।३१।।

शुभयोग में भी द्रव्य से आरंभादि जो कोई दोष होता है वह कुप के दृष्टांत से यतनावाले जीव को अनिष्ट नहीं है ।

इत्थं दानविधिज्ञाता धीरः पुण्यप्रभावकः ।
यथाशक्ति ददद्दानं परमानन्दभाग् भवेत् ।।३२।।

इस प्रकार दान की विधि को जानकर धर्म की प्रभावना करनेवाला ऐसा धीर आत्मा यथाशक्ति दान को देने से परमानंद का भोगी बनता है ।

देशनाद्वत्रिंशिका - ०२

यथास्थानं गुणोत्पत्तेः सुवैद्येनेव भेषजम् ।
बालाद्यपेक्षया देया देशना क्लेशनाशिनी ।।१।।

जिस प्रकार श्रेष्ठ वैद्य बालकादि रोगी की अपेक्षा से औषध देता है उसी प्रकार (मुनि को भी) पात्र के अनुसार गुणों की उत्पत्ति के लिए क्लेशनाशिनी देशना देनी चाहिए ।

उन्मार्गनयनात् पुंसामन्यथा वा कुशीलता ।
सन्मार्गद्रुमदाहाय वह्निज्वाला प्रसज्यते ।।२।।

यथायोग्य देशना न देने पर श्रोता को उन्मार्ग पर ले जाने के कारण कुशीलता का दोष लगता है । सन्मार्ग रूपी वृक्षों को जलाने के लिए कुशीलता अग्निज्वाला के समान होती है ।

अनुग्रहधिया वक्तुर्धर्मित्वं नियमेन यत् ।
भणितं तत्तु देशादिपुरुषादिविदं प्रति ।।३।।

अनुग्रह बुद्धि से बोलने वाला वक्ता नियम से धर्म का अधिकारी होता है- इस प्रकार जो यह कहा गया है वह देश आदि तथा पुरुष आदि की योग्यता को जानने में निपुण व्यक्ति की अपेक्षा से कहा गया है ।

कोऽयं पुरुष इत्यादिवचनादत एव च ।
पर्षदादिविवेकाच्च व्यक्तो मन्दस्य निग्रहः ।।४।।

इसी कारण से अर्थात् कुशीलता के दोष के कारण से 'यह पुरुष कौन है' इत्यादि वचन से तथा पर्षदा आदि के विवेक से देशन न दे तो मंदबुद्धिवाले वक्ता का निग्रह स्पष्ट है ।

अज्ञातवाग्विवेकानां पण्डितत्वाभिमानिनाम् ।
विषं यद्वर्त्तते वाचि मुखे नाशीविषस्य तत् ।।५।।

जिसने वाणी के विवेक को जाना नहीं है तथा स्वयं को पण्डित मानने के अहंकार में रक्त है उसके वचन में जो जहर है, वैसा जहर तो आशीविष सर्प के मुख में भी नहीं है ।

तत्र बाल रतो लिङ्गे वृत्तान्वेषी तु मध्यमः ।
पण्डितः सर्वयत्नेन शास्त्रतत्त्वं परीक्षते ।।६।।

श्रोता के लक्षण का उल्लेख करते हुए ग्रंथकार कहते हैं- अज्ञानी जीव वेश में आसक्त होते हैं, मध्यम श्रोता आचार की खोज करता है । ज्ञानी श्रोता तो सभी प्रकार के प्रयत्न से शास्त्रतत्त्व की परीक्षा करते हैं ।

गृहत्यागादिकं लिङ्ग बाह्यं शुद्धिं विना वृथा ।
न भेषजं विनाऽऽरोग्यं वैद्यवेषेण रोगिणः ।।७।।

शुद्धि के बिना गृहत्याग आदि बाह्य लिंग व्यर्थ है । जैसे औषध दिये बिना मात्र वैद्य का वेश धारण करने से रोगी को आरोग्य की उपलब्धि नहीं होती है ।

गुरुदोषकृतां वृत्तमपि त्याज्यं लघुत्यजाम् ।
जाड्यत्यागाय पतनं ज्वलति ज्वलने यथा ।।८।।

छोटे दोष का त्याग करने वाले एवं बड़े दोषों का सेवन करने वाले व्यक्तियों का चारित्र भी हेय कक्षा का है । यह ठंडी को दूर करने के लिए जलती हुई अग्नि में गिरने जैसा है ।

शास्त्रतत्त्वं बुधज्ञेयमुत्सर्गादिसमन्वितम् ।
तद् दृष्टेष्टाविरुद्धार्थमैदम्पर्यविशुद्धिमत् ।।९।।

उत्सर्ग और अपवाद आदि से युक्त, दृष्ट (प्रत्यक्ष अनुमान) इष्ट (आगम) प्रमाण से अविरुद्ध, तात्पर्य से शुद्ध ऐसा शास्त्रतत्त्व पंडितजन ही जान सकते हैं।

श्रुतचिन्तोत्तरोत्पन्नभावनाभाव्यमस्त्यदः ।
श्रुतं सर्वानुगाद्वाक्यात्प्रमाणनयवर्जितात् ।।१०।।

श्रुतज्ञान और चिंताज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले भावनाज्ञान से प्रस्तुत शास्त्र के तत्त्व को अच्छी तरह जान सकते है । प्रमाण नय से रहित एवं सर्व शास्त्रानुसारी वाक्य से जो बोध होता है वह श्रुतज्ञान है ।

उत्पन्नमविनष्टं च बीजं कोष्ठगतं यथा ।
परस्परविभिन्नोक्तपदार्थविषयं तु न ।।११।।

पूर्व श्लोक में कहा गया नय प्रमाण से शून्य और सर्व शास्त्रानुसारी वाक्य से उत्पन्न श्रुतज्ञान कोठार में रहे हुए अविनष्ट बीज के समान है । वह श्रुतज्ञान परस्पर भिन्न कहे गये ऐसे पदार्थ को स्वयं का विषय नहीं बनाता है ।

महावाक्यार्थजं सूक्ष्मयुक्त्या स्याद्वादसङ्गतम् ।
चिन्तामयं विसर्पि स्यात्तैलबिन्दुरिवाम्भसि ।।१२।।

बड़े वाक्यार्थ से उत्पन्न तथा सूक्ष्म युक्तियों के द्वारा स्याद्वाद संगत जो ज्ञान होता है वह चिन्ताज्ञान कहलाता है । पानी में जिस प्रकार तैल का बिन्दु फैल जाता है उसी प्रकार चिन्तामय ज्ञान विस्तारशील होता है ।

सर्वत्राज्ञापुरस्कारि ज्ञानं स्याद्भावनामयम् ।
अशुद्धजात्यरत्नाभासमं तात्पर्यवृत्तितः ।।१३।।

सभी जगह आज्ञा को आदर देनेवाला ज्ञान भावनामय ज्ञान है। वह ज्ञान अशुद्ध जात्य रत्न की कान्ति के समान है । (भावनाज्ञान को केवलज्ञान की अपेक्षा से अशुद्ध कहा है ।)

आद्येऽविरुद्धार्थतया मनाक् स्याद्दर्शनग्रहः ।
द्वितीये बुद्धिमाध्यस्थ्यचिन्तायोगात्कदापि न ।।१४।।

प्रथम यानि श्रुतज्ञान में स्वमत के विषय में विरोध न जानने के कारण कुछ मताग्रह होता है। द्वितीय अर्थात् चिन्ताज्ञान में बुद्धि की माध्यस्थता से होनेवाले चिन्तन योग के कारण कभी भी मताग्रह नहीं होता है ।

सर्वत्रैव हिता वृत्तिः समापत्त्याऽनुरूपया ।
ज्ञाने सञ्जीविनीचारज्ञातेन चरमे स्मृता ।।१५।।

अंतिम भावनाज्ञान होने पर संजीविनीचार के दृष्टांत के समान समापत्ति से अर्थात् सभी जीवों पर अनुग्रह करने की उचित परिणति से सर्वत्र हित की प्रवृत्ति होती है वह संमत है ।

एतेनैवोपवासादेर्वैयावृत्त्यादिघातिनः ।
नित्यत्वमेकभक्तादेर्जानन्ति बलवत्तया ।।१६।।

वैयावृत्य आदि गुणों का घात करनेवाले उपवास आदि की अपेक्षा से नित्य एकाशना आदि श्रेष्ठ है । यह भावनाज्ञान से ही जाना जा सकता है।

विनैतन्नूनमज्ञेषु धर्मधीरपि न श्रिये ।
गृहीतग्लानभैषज्यप्रदाननाभिग्रहेष्विव ।।१७।।

भावनाज्ञान के बिना अज्ञानी में रही हुई धर्मबुद्धि भी कल्याण के लिए नहीं होती है । वह ग्लान को औषध देने का नियम लेनेवाले जीव के समान है ।

तेषां तथाविधाऽप्राप्तौ स्वाधन्यत्वविभाविनाम् ।
चित्तं हि तत्त्वतः साधुग्लानभावाभिसन्धिमत् ।।१८।।

ग्लान साधु को औषध देने का नियम लेनेवाले अज्ञ जीव को ग्लान साधु नहीं मिलने पर स्वयं को अभागी मानता है । उसका मन तो 'साधु रोगी हो तो अच्छा' इस प्रकार के भाववाला है ।

तस्माद् भावनया भाव्यं शास्त्रतत्त्वं विना परम् ।
परलोकविधौ मानं बलवन्नात्र दृश्यते ।।१९।।

उपरोक्त कारण से शास्त्रतत्त्व को भावना ज्ञान से भावित करना चाहिए। परलोक संबंधि धर्म क्रिया में भावना ज्ञान से भावित शास्त्रतत्त्व के बिना अन्य कोई प्रमाण दिखाई नहीं देता है ।

बाह्यक्रियाप्रधानैव देया बालस्य देशना ।
सेवनीयस्तदाचारो यथाऽसौ स्वास्थ्यमश्नुते ।।२०।।

जिसमें बाह्य क्रिया प्रधान हो वही धर्मदेशना बाल जीवों को देना चाहिए तथा उनके समक्ष बाह्य आचार पालना चाहिए । जिससे बाल जीव स्वस्थता प्राप्त करते हैं ।

सम्यग्लोचो धराशय्या तपश्चित्तं परीषहाः ।
अल्पोपधित्वमित्यादि बाह्यं बालस्य कथ्यते ।।२१।।

लोच, भूमिशयन, विविध तप, परिषह सहन करना, अल्प उपकरण रखना आदि बाह्य आचार बाल जीवों को कहे जाते हैं ।

मध्यमस्य पुनर्वाच्यं वृत्तं यत्साधुसङ्गतम् ।
सम्यगीर्यासमित्यादि त्रिकोटीशुद्धभोजनम् ।।२२।।

मध्यम बुद्धिवाले को इर्यासमिति आदि का पालन, त्रिकोटि से शुद्ध भोजन ग्रहण, जो साधु के संगत है ऐसा सद्वृत्त अच्छी तरह बताना चाहिए ।

वयः क्रमेणाध्ययनश्रवणध्यानसङ्गतिः ।
सदाशयेनानुगतं पारतन्त्र्यं गुरोरपि ।।२३।।

आयु के क्रम से अध्ययन, श्रवण और ध्यान की संगति तथा सदाशय से युक्त गुरु की पराधीनता भी (अर्थात् ये गुरु ही संसार का नाश करने में हेतु है ।) कर्तव्य रूप में मध्यम बुद्धिवाले जीव को कहना चाहिए ।

वचनाराधनाद्धर्मोऽधर्मस्तस्य च बाधनात् ।
धर्मगुह्यमिदं वाच्यं बुधस्य च विपश्चिता ।।२४।।

जिनवचन की आराधना से धर्म है और जिनवचन की विराधना से अधर्म है । यह धर्म का रहस्य पंडित श्रोता को कहना चाहिए ।

इत्थमाज्ञाऽऽदरद्वारा हृदयस्थे जिने सति ।
भवेत्समरसापत्तिः फलं ध्यानस्य या परम् ।।२५।।

इस प्रकार जिनाज्ञा के आदर के द्वारा जिनेश्वर परमात्मा हृदयस्थ होने पर उस समरसापत्ति (भगवत्तुल्यता) की प्राप्ति होती है जो ध्यान का परम फल है।

देशनैकनयाक्रान्ता कथं बालाद्यपेक्षया ।
इति चेदित्थमेव स्यात्तद्बुद्धिपरिकर्मणा ।।२६।।

बाल आदि को देशना के विषय में शंका एवं समाधान करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि- बाल आदि जीवों की अपेक्षा से एक नय की प्रधानता से देशना देना किस प्रकार से योग्य है ? समाधान में कहते हैं कि बालादि जीवों की बुद्धि इसी प्रकार से परिकर्मित होती हैं ।

प्रमाणदेशनैवेयं ततो योग्यतया मता ।
द्रव्यतः सापि नो मानं वैपरीत्यं यया भवेत् ।।२७।।

योग्यता की अपेक्षा से तो उसे प्रमाणदेशना ही स्वीकृत किया गया है। किंतु वह द्रव्यप्रमाणदेशना भी, प्रमाण नहीं है जिससे विपर्यास उपस्थित होता हो।

आदौ यथारुचि श्राव्यं ततो वाच्यं नयान्तरम् ।
ज्ञाते त्वेकनयेऽन्यस्मात् परिशिष्टं प्रदर्शयेत् ।।२८।।

प्रारंभ में श्रोता की रुचि के अनुसार देशना देना चाहिए । उसके पश्चात् अन्य नय से देशना देना चाहिए, अन्य के पास से एक नय अच्छे से जान लिया हो तो उसे शेष सभी नय बताना चाहिए ।

संविग्नभाविता ये स्युर्ये च पार्श्वस्थभाविताः ।
मुक्त्वा द्रव्यादिकं तेषां शुद्धोञ्छं तेन दर्शितम् ।।२९।।

उपरोक्त प्रसंग में ही आगे ग्रंथकार कहते है कि- शास्त्रमें कहा गया हैं कि, जो श्रोता संविग्नभावित और पार्श्वस्थभावित है उनके लिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को छोड़कर शुद्धपिंड ग्रहण करनेवाले ही साधु होते हैं ऐसा बताना चाहिए।

दुर्नयाभिनिवेशो तु तं दृढ दूषयेदपि ।
दुष्टांशच्छेदतो नाङ्घ्री दूषयेद्विषकण्टकः ।।३०।।

श्रोता को दुर्नयों का हठाग्रह हो तो उसका दृढ़ता से खंडन भी करना चाहिए । कारण कि जहरीला काँटा लगने पर दूषित भाग को निकालने से पूरा पैर दूषित नहीं होता है ।

जानाति दातुं गीतार्थो य एवं धर्मदेशनाम् ।
कलिलालेऽपि तस्यैव प्रभावाद्धर्म एधते ।।३१।।
गीतार्थाय जगज्जन्तुपरमानन्ददायिने ।
मुनये भगवद्धर्मदेशकाय नमो नमः ।।३२।।

जो गीतार्थ इस प्रकार से धर्मदेशना देना जानते हैं, उनके प्रभाव से कलिकाल में भी धर्म समृद्ध बनता है । भगवत्धर्म के उपदेश के द्वारा जगत के जीवों को परमानन्द देनेवाले मुनि भगवंत को नमस्कार हो... नमस्कार हो।

मार्गद्वात्रिंशिका - ०३

मार्गः प्रवर्त्तकं मानं शब्दो भगवतोदितः ।
संविग्नाऽशठगीतार्थाऽऽचरणं चेति स द्विधा ।।१।।

प्रवर्तक प्रमाण मार्ग है वह दो प्रकार का है- (१) भगवान द्वारा कहे गये शब्द और (२) संविग्न अशठ गीतार्थों का आचरण ।

द्वितीयानादरे हन्त प्रथमस्याप्यनादरः ।
जीतस्यापि प्रधानत्वं साम्प्रतं श्रूयते यतः ।।२।।

शिष्टाचार का आदर नहीं करने पर सवर्ज्ञ के वचन का भी अनादार ही होता है । वर्तमान में जीतव्यवहार ही प्रधान है ऐसा सुना गया है ।

अनुमाय सतामुक्ताचारेणागममूलताम् ।
पथि प्रवर्तमानानां शङ्क्या नान्धपरम्परा ।।३।।

संविग्न, अशठ ऐसे गीतार्थ महात्माओं के आचरण के द्वारा आगममूलकता का अनुमान करके उस मार्ग पर प्रवर्तमान लोगों की प्रवृत्ति में अंधपरम्परा की शंका नहीं करनी चाहिए ।

सूत्रे सद्धेतुनोत्सृष्टमपि क्वचिदपोद्यते ।
हितदेऽप्यनिषिद्धेऽर्थे किं पुनर्नास्य मानता ।।४।।

आगम में बताया गया उत्सर्ग मार्ग भी पुष्ट आलंबन से अपवाद बन जाता है तो फिर हितकारी और आगम में अनिषिद्ध ऐसे विषय में जितव्यवहार को क्यों प्रमाण नहीं मान सकते है ?

निषेधः सर्वथा नास्ति विधिर्वा सवर्थाऽऽगमे ।
आयं व्ययं च तुलयेल्लाभाकाङ्क्षी वणिग्यथा ।।५।।

आगम में किसी वस्तु का सर्वथा निषेध अथवा सर्वथा विधान नहीं है। जिस प्रकार लाभ का इच्छुक व्यापारी लाभ और हानि की तुलना करके व्यापार करता है, उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में साधक को वर्तन करना चाहिए ।

प्रवाहधारापतितं निषिद्धं यन्न दृश्यते ।
अत एव न तन्मत्या दूषयन्ति विपश्चितः ।।६।।

परम्परा से आया हुआ आचरण आगम निषिद्ध नहीं दिखाई दे तो प्राज्ञ

पुरुष उसको अपनी बुद्धि से दूषित नहीं बताते हैं ।

संविग्नाचरणं सम्यक् कल्पप्रावरणादिकम् ।
विपर्यस्तं पुनः श्राद्धममत्वप्रभृति स्मृतम् ।।७।।

साधु की मर्यादा के अनुसार कपड़ा ओढ़ना आदि संविग्न आचरण है। पुनः श्रावकों के प्रति ममत्व को असंविग्न आचरण कहा गया है ।

आद्यं ज्ञानात्परं मोहाद्विशेषो विशदोऽनयोः ।
एकत्वं नानयोर्युक्तं काच-माणिक्ययोरिव ।।८।।

संविग्न आचरण तत्त्व-ज्ञान से होता है । शिथिलाचार मोह से होता है । दोनों में भेद स्पष्ट है । मणि और कांच के समान दोनों को एक मानना युक्तिसंगत नहीं है।

दर्शयद्भिः कुलाचारलोपादामुष्मिकं भयम् ।
वारयद्भिः स्वगच्छीयगृहिणः साधुसङ्गतिम् ।।९।।

द्रव्यस्तवं यतीनामप्यनुपश्यद्भिरुत्तमम् ।
विवेकविकलं दानं स्थापयद्भिर्यथा तथा ।।१०।।

अपुष्टालम्बनोत्सिक्तैर्मुगधमीनेषु मैनिकैः ।
इत्थं दोषादसंविग्नैर्हहा विश्वं विडम्बितम् ।।११।।

कुलाचार के लोप से पारलौकिक भय दिखाने वाले, स्व गच्छ के गृहस्थ को अन्य साधु की संगत से रोकने वाले, साधुओं को भी द्रव्यस्तव श्रेष्ठ है ऐसा माननेवाले, विवेक शून्य जैसे-तैसे दान का भी समर्थन करनेवाले, अपुष्ट आलंबन को पकड़नेवाले, मुग्धजीवों रूपी मछलियों के लिए मछलीमार के समान ऐसे आसंविग्नों के द्वारा दोष से हाय ! हाय ! जगत की विडंबना हुई है ।

अप्येष शिथिलोल्लापो न श्राव्यो गृहमेधिनाम् ।
सूक्ष्मोऽर्थ इत्यदोऽयुक्तं सूत्रे तद्गुणवर्णनात् ।।१२।।

शिथिलाचारी की यह बात भी नहीं सुनना चाहिए कि 'गृहस्थों को सूक्ष्म अर्थ नहीं कहना' यह बात अयुक्त है क्योंकि आगम में श्रावक के उस गुण का वर्णन आता है ।

तेषां निन्दाल्पसाधूनां बह्वाचरणमानिनाम् ।
प्रवृत्ताङ्गीकृतात्यागे मिथ्यादृग्गुणदर्शिनी ।।१३।।

बहुत लोगो के द्वारा आचरित आचरण हम करते है ऐसे अभिमानवाले शिथिलाचारी स्वीकृत गलत प्रवृत्ति का त्याग नहीं करते है और अल्प संविग्न साधुओं की निंदा करते हैं । इस प्रकार यह प्रवृत्ति मिथ्यात्वीयों में गुण देखनेवाली हैं ।

इदं कलिरजः पर्वभस्म भस्मग्रहोदयः ।
खेलनं तदसंविग्नराजस्यैवाधुनोचितम् ।।१४।।

यह (दुष्ट आचरण) कलिकाल रूपी होली की धूल स्वरुप भस्मग्रह का उदर है । इस कारण से असंविग्न रूपी राजाओं का नृत्य ही यहाँ योग्य है।

समुदाये मनाग्दोषभीतैः स्वेच्छाविहारिभिः ।
संविग्नैरप्यगीतार्थैः परेभ्यो नातिरिच्यते ।।१५।।

समुदाय में अल्पदोष से भयभीत स्वच्छंदविहारी अगीतार्थ साधु संविग्न होने पर भी असंविग्नों से भिन्न नहीं हैं ।

वदन्ति गृहिणां मध्ये पार्श्वस्थानामवन्द्यताम् ।
यथाच्छन्दतयात्मानभवन्द्यं जानते न ते ।।१६।।

गृहस्थों के बीच में स्वच्छंदी साधु 'पार्श्वस्थ साधु वंदनीय नहीं' इस प्रकार कहते हैं । किंतु स्वयं यथाच्छंदी होने से अवंदनीय है वे यह नहीं जानते हैं।

गीतार्थपारतन्त्र्येण ज्ञानमज्ञानिनां मतम् ।
विना चक्षुष्मदाधारमन्धः पथि कथं व्रजेत् ।।१७।।

गीतार्थ साधुओं की पराधीनता के कारण ही अज्ञानियों को ज्ञान माना गया है । अंधा व्यक्ति, चक्षुष्मान् व्यक्ति के आलंबन के बिना मार्ग में कैसे आगे बढ़ सकता है ।

तत्त्यागेनाऽफलं तेषां शुद्धोञ्छादिकमप्यहो ।
विपरीतफलं वा स्यान्नौभङ्ग इत वारिधौ ।।१८।।

ओह गीतार्थ साधुओं की निश्रा छोड़ने से उन साधुओं की निर्दोष गौचरीचर्या आदि आचार भी निष्फल हो जाते है अथवा समुद्र में नाव टूट जाने

के समान विपरीत फल देनेवाले होते है ।

अभिन्नग्रन्थय प्रायः कुर्वन्तोऽप्यतिदुष्करम् ।
बाह्या इवाव्रता मूढा ध्वांक्षज्ञातेन दर्शिताः ।।१९।।

गीतार्थ मुनियों की निश्रा छोड़नेवाले मुनियों के विषय में ग्रंथकार आगे कहते है कि इस प्रकार के मुनि अतिदुष्कर तप करने पर भी प्रायः अभिन्न ग्रन्थिवाले अर्थात् ग्रन्थिभेद नहीं करनेवाले होते है । बाह्य कुतीर्थिक के समान उनके व्रत निष्फल होते हैं । कौए के दृष्टान्त से मूर्ख दिखाई देते हैं ।

वदन्तः प्रत्युदासीनान् परुषं परुषाशयाः ।
विश्वासादाकृतेरेते महापापस्य भाजनम् ।।२०।।

(हितकारी ऐसे) मध्यस्थ व्यक्तियों के प्रति कठोर आशय से कठोर वचन बोलते हुए अविश्वास से ये स्वछंद साधु महापाप के भागी बनते हैं ।

ये तु स्वकर्मदोषेण प्रमाद्यन्तोऽपि धार्मिकाः ।
संविग्नपाक्षिकास्तेऽपि मार्गान्वाचयशालिनः ।।२१।।

स्वयं के कर्म के दोष से प्रमादी होने पर भी जो चारित्र धर्म के प्रति श्रद्धावाले और संविग्न पाक्षिक है वे भी मोक्षमार्ग के अन्वाचय से शोभित है।

शुद्धप्ररूपणैतेषां मूलमुत्तरसम्पदः ।
सुसाधुग्लानि भैषज्यप्रदानाभ्यर्चनादिकाः ।।२२।।

शुद्ध परुपणा संविग्नपाक्षिक का मूल गुण है । सुसाधुओं के रोग को दूर करनेवाले औषध का दान तथा उनकी पूजा आदि उत्तर गुण है ।

आत्मार्थं दीक्षणं तेषां निषिद्धं श्रूयते श्रुते ।
ज्ञानाघर्थाऽन्यदीक्षा च स्वोपसम्पच्च नाऽहिता ।।२३।।

संविग्नपाक्षिक स्वयं ही सेवा के लिए दूसरों को दीक्षा नहीं देता है, इस प्रसंग में ग्रंथकार कहते है- (संविग्नपाक्षिक द्वारा) स्वयं के लिए दूसरों को दीक्षा देना उसका शास्त्र में निषिद्ध सुना जाता है । ज्ञानादि के लिए अन्य को प्रव्रज्या देना और उपसम्पदा बनाना अहितकारी नहीं हैं ।

नावश्यकादिवैयर्थ्यं तेषां शक्यं प्रकुर्वताम् ।
अनुमत्यदिसाम्राज्याद् भावावेशाच्च चेतसः ।।२४।।

शक्य आचार का पालन करते हुए संविग्नपाक्षिक के प्रतिक्रमण आदि आवश्यक योग व्यर्थ नहीं होता है । क्योंकि उनकी अनुमोदना की विशालता होती है तथा मन भावान्वित होता है ।

द्रव्यत्वेऽपि प्रधानत्वात्तथाकल्पात् तदक्षतम् ।
यतो मार्गप्रवेशाय मतं मिथ्यादृशामपि ।।२५।।

संविग्नपाक्षिक के आवश्यक आदि योग द्रव्य रूप होने पर भी प्रधान होने से वे निर्दोष है । क्योंकि मोक्षमार्ग में प्रवेश करने के लिए मिथ्यात्वियों का भी आवश्यक योगशास्त्र सम्मत है ।

मार्गभेदस्तु यः कश्चिन्निजमत्या विकलप्यते ।
स तु सुन्दरबुद्ध्यापि क्रियमाणो न सुन्दरः ।।२६।।

स्वयं की बुद्धि से जो कोई नये मार्ग की कल्पना की जाती है । वह सुंदर बुद्धि से होने पर भी सुंदर नहीं होता है ।

निवर्तमाना अप्येके वदन्त्याचारगोचरम् ।
आख्याता मार्गमप्येको नोञ्छजीवीति च श्रुतिः ।।२७।।

आचार मार्ग से निवृत्त होनेवाले भी कुछ जीव आचार मार्ग को कहते है। ऐसे व्यक्ति मार्ग को कहनेवाले होने पर भी शुद्धगौचरीजीवी नहीं है ऐसी आगमोक्ति है ।

असंयते संयतत्वं मन्यमाने च पापता ।
भणिता तेन मार्गोऽयं तृतीयोऽप्यवशिष्यते ।।२८।।

असंयत में संयतपना मानना पाप कहा गया है। इस कारण से यह तृतीय मार्ग अवशेष है अर्थात् संविग्न पाक्षिक रूप तृतीय मार्ग फलित होता है ।

साधुः श्राद्धश्च संविग्नपक्षी शिवपथास्त्रयः ।
शेषा भवपथा गेहिद्रव्यलिङ्गिकुलिङ्गिनः ।।२९।।
गुणी च गुणरागी च गुणद्वेषी च साधुषु ।
श्रुयन्ते व्यक्तमुत्कृष्टमध्यमा धमबुद्धयः ।।३०।।
ते च चारित्र-सम्यक्त्व-मिथ्यादर्शनभूमयः ।
अतो द्वयोः प्रकृत्यैव वर्तितव्यं यथाबलम् ।।३१।।

इत्थं मार्गस्थिताचारमनुसृत्य प्रवृत्तया ।
मार्गदृष्ट्यैव लभ्यन्ते परमानन्दसम्पदः ।।३२।।

साधु श्रावक और संविग्नपाक्षिक ये तीन कल्याण-मार्ग (मोक्ष मार्ग) है। शेष तीन गृहस्थ, द्रव्यलिङ्गी, कुलिंगी संसार-मार्ग है । जो गुणवान व्यक्ति है वह उत्कृष्ट बुद्धिवाला है, जो साधु के प्रति गुणरागी हो वह मध्यम बुद्धिवाला है, और जो साधु के प्रति द्वेषी हो वह अधम बुद्धिवाला है । यह बात शास्त्रों में सुनी जाती है । जो गुणवान है वह चारित्र की भूमिका में रहता है, जो गुणानुरागी है वह समकित की भूमिका में है और जो गुणद्वेषी है वह मिथ्यात्व की भूमिका में रहा हुआ है । अतः दोनों में अर्थात् चारित्र और समकित की भूमिका में अपने स्वभाव से अर्थात् गुणी और गुणानुरागी के प्रति यथाशक्ति वर्तन करना चाहिए। इस प्रकार मार्गस्थ साधु के आचार का अनुशरण करके प्रवृत्त मार्गदृष्टि से ही परमानंद की संपत्ति प्राप्त होती है ।

जिनमहत्त्व द्वात्रिंशिका - ०४

वप्रत्रय-ध्वज-च्छत्र-चक्र-चामरसम्पदा ।
महत्त्वं न विभोस्तादृङ्मायाविष्वपि सम्भवात् ।।१।।

तीन गढ़, इन्द्रध्वज, छत्रत्रय, धर्मचक्र, चामर आदि बाह्य वैभव के कारण तीर्थंकर परमात्मा की महत्ता नहीं है क्योंकि वैसा वैभव तो मायावीओं में भी संभव है ।

स्वामिनो वचनं यत्तु संवादि न्यायसङ्गतम् ।
कुतर्कध्वान्तसूर्यांशुर्महत्त्वं तद्यदभ्यधुः ।।२।।

कुतर्क रूपी अंधकार न करने में सूर्यकिरण के समान अरिहंत भगवान का संवादि न्याययुक्त जो वचन है वही उनका महत्त्व है । (जैसा की हरिभद्रसूरि ने कहा है ।)

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ।।३।।

आचार्य हरिभद्र ने कहा है नहीं मुझे वीरप्रभु पर पक्षपात है और न ही कपिलादि पर द्वेष है । जिसका वचन युक्ति संगत है । उसको ही स्वीकार करना चाहिए ।

पुण्योदयभवैर्भावैर्मतं क्षायिकसङ्गतैः ।
महत्त्वं महनीयस्य बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।।४।।

क्षायिक गुणों से युक्त ऐसे पुण्योदयजन्य भावो के द्वारा पूज्य परमात्मा का बाह्य तथा आभ्यन्तर महत्त्व माना गया है ।

बहिरभ्युदयाऽऽदर्शी भवत्यन्तर्गतो गुणः ।
मणेः पटाऽऽवृत्तस्यापि बहिर्ज्योतिरुदञ्चति ।।५।।

जिस प्रकार वस्त्र से आवरित मणि की प्रभा बाहर प्रगट होती है वैसे ही आभ्यन्तर गुण भी बाहर अभ्युदय दिखानेवाला होता है ।

भेदः प्रकृत्या रत्नस्य जात्यस्याऽजात्यतो यथा ।
तथाऽर्वागपि देवस्य भेदोऽन्येभ्यः स्वभावतः ।।६।।

जिस प्रकार अजात्य रत्न का श्रेष्ठ जात्यरत्न से भेद स्वभाव से है उसी

प्रकार मिथ्यात्व आदि पूर्व अवस्था में भी अरिहंत परमात्मा के जीव की अन्य जीवों से भिन्नता स्वभाव से रही हुई है ।

नित्यनिर्दोषताऽभावान्महत्त्वं नेति दुर्वचः ।
नित्यनिर्दोषता यस्माद् घटादावपि वर्तते ।।७।।

नित्यनिर्दोषता न होने से अरिहंत का महत्त्व नहीं है यह दुर्वचन है । क्योकि नित्य निर्दोषता तो घट आदि में भी होती है ।

सात्मन्येव महत्त्वाङ्गमिति चेत्तत्र का प्रमा ।
पुमन्तरस्य कल्प्यत्वाद् ध्वस्तदोषो वरं पुमान् ।।८।।

आत्मा में रहनेवाली नित्यनिर्दोषता ही महत्त्व की प्रयोजिका है अथवा नित्यनिर्दोषता के अभाव में आत्मा महानता का भी अभाव होता है । इस प्रकार नैयायिक कहते है किंतु इसका प्रमाण क्या है ? क्योंकि अन्य (नित्यनिर्दोषता से युक्त) स्वतन्त्र पुरुष की कल्पना करने से तो प्रसिद्ध पुरुष में ही दोष ध्वंस की कल्पना करना श्रेष्ठ है ।

दोषाऽऽवरणयोर्हानिर्निःशेषाऽस्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ।।९।।

दोष और आवरण की सम्पूर्ण हानि होती है क्योंकि उसका तारतम्य है जैसे अग्नि आदि के संयोग से स्वर्ण के बाह्य और आंतरिक मल का क्षय होता है ।

इत्थं जगदकर्तृत्वेऽप्यमहत्त्वं निराकृतम् ।
कार्ये कर्तृप्रयोज्यस्य विशेषस्यैव दर्शनात् ।।१०।।

इस प्रकार वीतराग जगत के कर्त्ता न होने पर भी उनकी अमहानता का निराकरण होता है । क्योंकि कार्य में कर्तृप्रयोज्य ही विशेष रूप से दिखाई देने से जगत्कर्ता ही सिद्ध नहीं होता है ।

कर्तृत्वेन च हेतुत्वे ज्ञातृत्वेनाऽपि तद् भवेत् ।
ज्ञानस्यैव च हेतुत्वे सिद्धे नः सिद्धसाधनम् ।।११।।

कर्तृत्व रूप में कारणता मानने पर ज्ञातृत्व रूप में भी कारणता मानने का प्रसंग आएगा । ज्ञान का हेतु सिद्ध होने पर हमको सिद्ध की भी सिद्धि हो जाएगी ।

धृत्यादेरपि धर्मादिजन्यत्वान्नाऽत्र मानता ।
कृतित्वेनापि जन्यत्वाच्चेत्यन्यत्रैव विस्तरः ।।१२।।

धृति आदि गुण भी धर्म आदि जन्य होने से ईश्वर के जगतकर्तृत्व में प्रमाण नहीं हो सकते हैं । कर्तृत्व स्वरूप में कार्यता मान्य होने से जगतकर्तृत्व की सिद्धि नहीं होती है । इस प्रसंग का अन्यत्र विस्तार से वर्णन किया गया है।

अन्ये त्वाहुर्महत्त्वं हि सङ्ख्यावद्दानतोऽस्य न ।
शास्त्रे नो गीयते ह्येतदसङ्ख्य त्रिजगद्गुरोः ।।१३।।

अन्यलोग (बौद्ध) इस प्रकार कहते है कि संख्यात दान देने से तीर्थंकर का महत्त्व नहीं है । हमारे शास्त्र में तीन जगत के गुरु गौतम बुद्ध का असंख्यात दान सुना जाता है ।

अत्रोच्यते न सङ्ख्यावद्दानमर्थाद्यभावतः ।
सूत्रे वरवरिकायाः श्रुतेः किं त्वर्थ्यभावतः ।।१४।।

पूर्व श्लोक में उक्त बौद्धों की बात का जवाब देते हुए ग्रंथकार कहते है- अर्थ के अभाव से तीर्थंकर ने परिमित दान दिया ऐसा नहीं है । क्योंकि आगम में दान के विषय में जितनी इच्छा हो उतना मांगो ऐसा सुना जाता है। किंतु याचक के अभाव से तीर्थंकर भगवान् ने परिमित दान दिया ।

स च स्वाम्यनुभावेन सन्तोषसुखयोगतः ।
धर्मेऽप्युग्रोद्यमात्तत्व दृष्ट्येत्येतदनाविलम् ।।१५।।

तीर्थंकर भगवान् के प्रभाव से संतोष सुख से युक्त होने के कारण याचकों का अभाव था । उसी प्रकार धर्म में तत्त्वदृष्टि के द्वारा उग्रपुरुषार्थ से अपरिमित याचना करनेवाले याचक का अभाव था । अतः संख्यात दान निर्दोष सिद्ध होता है ।

दानादेवाऽकृतार्थत्वान्महत्त्वं नेति मन्दधीः ।
तस्योत्तरमिदं पुण्यमित्थमेव विपच्यते ।।१६।।

गाथार्थ : दान देने से ही तीर्थंकर महान नहीं थे और न दान के कारण ही उनका महत्त्व था- ऐसा कोई मंदबुद्धि बोलता है । उसका उत्तर यह है कि- तीर्थंकर का पुण्य इस प्रकार ही फलित होता है ।

गर्भादारभ्य सत्पुण्याद् भवेत्तस्योचिता क्रिया ।
तत्राऽप्यभिग्रहो न्याय्यः श्रूयते स्वामिनस्ततः ।।१७।।

सत्पुण्य के प्रभाव से तीर्थंकर की गर्भ से लेकर सारी प्रवृत्ति उचित होती है । इसलिए गर्भ में भी महावीर स्वामी भगवान् ने योग्य अभिग्रह नियम लिया था ऐसा सुना जाता है।

न्याय्यता चेष्टसंसिद्धेः पित्रुद्वेगनिरासतः ।
प्रारम्भमङ्गलं ह्येतद् गुरुशुश्रूषणं हि तत् ।।१८।।

भगवान महावीर द्वारा लिया गया अभिग्रह, माता-पिता को पुत्र वियोग के निमित्त से होनेवाले शोक का निराकरण करने रूप इष्टसिद्धि के लिए न्याय संगत था । क्योंकि गुरुजनों की सुश्रूषा प्रारम्भ में कल्याणकारी होती है।

तत्खेदरक्षणोपायाऽप्रवृत्तौ न कृतज्ञता ।
त्यागोऽप्यबोधे न त्यागो यथा ग्लानौषधार्थिनः ।।१९।।

माता-पिता के खेद को दूर करने के उपाय में प्रवृत्ति न की जाए तो वह कृतज्ञता नहीं होगी । प्रयत्न करने पर भी माता-पिता प्रतिबोध प्राप्त न कर सके तो (समझ न सके तो) उनका त्याग, ग्लान को छोड़कर औषध लेने जाने जैसा त्याग नहीं कहलाता है ।

अपरस्त्वाह राज्यादि महाधिकरणं ददत् ।
शिल्पादि दर्शयंश्चार्हन्महत्त्वं कथमृच्छति ।।२०।।

अन्यवादी इस प्रकार कहते है कि राज्य आदि महाअधिकारण को देते हुए शिल्प आदि कला को बतानेवाले अरिहंत किस प्रकार महत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं ।

तन्नेत्थमेव प्रकृताधिकदोषनिवारणात् ।
शक्तौ सत्यामुपेक्षाया अयुक्तत्वान्महात्मनाम् ।।२१।।

उपरोक्त बात का खंडन करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि- यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्ति से अधिक दोष का निवारण हुआ था । शक्ति होने पर भी दोषों की उपेक्षा करना महान लोगों के लिए अयुक्त है ।

नागादे रक्षणायेव गर्त्ताद्याकर्षणेऽत्र न ।
दोषोऽन्यथोपदेशेऽपि स स्यात्परनयोद्भवात् ।।२२।।

उपरोक्त बात का समर्थन करते हुए ग्रंथकार कहते है कि- सर्प आदि से रक्षण करने के लिए गड्ढे में से खींचने पर भी दोष नहीं माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ जानना । अन्यथा परनय के उद्भावन से देशना में भी वही दोष लगेगा ।

कश्चित्तु कुशलं चितं मुख्यं नास्येति नो महान् ।
तदयुक्तं यतो मुख्यं नेदं सामायिकादपि ।।२३।।

कोई व्यक्ति इस प्रकार कहता है कि- श्रेष्ठ कुशल चित्त न होने से तीर्थंकर महान नहीं है । किंतु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि कुशल चित्त सामायिक से बढ़कर नहीं है ।

स्वधर्मादन्यमुक्त्याशा तदधर्मसहिष्णुता ।
यद्द्वयं कुशले चित्ते तवसम्भवि तत्त्वतः ।।२४।।

कुशल चित्त में (१) स्वयं के धर्म से दूसरों की मुक्ति की आशा रही हुई है, तथा (२) दूसरों के पापों की सहिष्णुता रही हुई है । ये दोनों बाते तत्त्वतः असंभव है।

अतो मोहऽनुगं ह्येतन्निर्मोहानामसुन्दरम् ।
बोध्यादिप्रार्थनाकल्पं सरागत्वे तु साध्वपि ।।२५।।

अतः कुशलचित्त मोहग्रस्त है । निर्मोही पुरुष को वह उचित नहीं है। बोधि आदि प्रार्थना के समान सराग अवस्था सुंदर हो सकती है ।

सत्त्वधीरपि या स्वस्योपकारादपकारिणि ।
सात्मम्भरित्वपिशुना पराऽपायाऽनपेक्षिणी ।।२६।।

स्वयं का अपकार करनेवाले (हिंसक प्राणी) पर उपकार करने की जो सात्त्विकबुद्धि (कुशलचित्त) है वह भी स्वार्थ की सूचक है। और अन्य को होनेवाले नुकसान से निरपेक्ष है ।

परार्थमात्ररसिकस्ततोऽनुपकृतोपकृत् ।
अमूढलक्षो भगवान् महानित्येष मे मतिः ।।२७।।

वीतराग परमात्मा मात्र परोपकार में ही रसिक है। इसलिए स्वयं के ऊपर उपकार न करनेवाले जीवों पर भी उपकार करनेवाले ऐसे परमात्मा को स्वयं के लक्ष्य के विषय में कोई मूढ़ता नहीं है । ऐसा मेरी बुद्धि कहती है ।

अर्हमित्यक्षरं यस्य चित्ते स्फुरति सर्वदा ।
परं ब्रह्म ततः शब्दब्रह्मणः सोऽधिगच्छति ।।२८।।

'अर्हम्' यह शब्द जिसके चित्त में सर्वदा स्फुरित होता है । वह शब्द ब्रह्म से भी परमब्रह्म को प्राप्त करता है ।

परः सहस्राः शरदां परे योगमुपासताम् ।
हन्ताऽर्हन्तमनासेव्य गन्तारो न परं पदम् ।।२९।।

अन्य धर्मी हजारों वर्ष तक योग की उपासना करते रहते हैं। किंतु अहिरंत-वीतराग की उपासना बिना उनको परमपद मोक्ष प्राप्त होनेवाला नहीं है।

आत्माऽयमर्हतो ध्यानात्परमात्मत्वमश्नुते ।
रसविद्धं यथा ताम्रं स्वर्णत्वमधिगच्छति ।।३०।।

अहिरंत के ध्यान से यह आत्मा परमात्मपने को प्राप्त करता है । जैसे की स्वर्णरस से भेदित तांबा सुवर्णत्व को प्राप्त करता है ।

पूज्योऽयं स्मरणीयोऽयं सेवनीयोऽयमादरात् ।
अस्यैव शासने भक्तिः कार्या चेच्चेतणाऽस्ति वः।।३१।।

यह वीतराग तीर्थंकर आदरपूर्वक पूजने के योग्य हैं, स्मरण करने के योग्य हैं, सेवा करने के योग्य हैं । यदि तुममे चेतना हो बुद्धि हो, तो परमात्मा की आज्ञा के अनुसार भक्ति करन योग्य हैं ।

सारमेतन्मया लब्धं श्रुताब्धेरवगाहनात् ।
भक्तिर्भागवती बीजं परमानन्दसम्पदाम् ।।३२।।

श्रुतसागर का अवगाहन करने से मुझे यह सार प्राप्त हुआ है कि, भगवान की भक्ति ही परमानंद मोक्ष की संपत्ति का बीज है ।

भक्तिद्वात्रिंशिका - ०५

श्रमणानामियं पूर्णा सूत्रोक्ताऽऽचारपालनात् ।
द्रव्यस्तवाद् गृहस्थानां देशतस्त्विधिस्त्वयम् ।।१।।

सर्वविरतिधारियों को यह भक्ति पूर्ण होती है । क्योंकि वे आगमोक्त पंचाचार का पालन करते हैं । गृहस्थों को यह भक्ति आंशिक होती है । क्योंकि वे द्रव्यस्तव का पालन करते है । द्रव्यस्तव की विधि इस प्रकार है ।

न्यायाऽर्जितधनो धीरः सदाचारः शुभाशयः ।
भवनं कारयेज्जैनं गृही गुर्वादिसम्मतः ।।२।।

न्यायउपार्जित धन से सम्पन्न, धीर, सदाचारी, शुभाशय से युक्त तथा गुरु आदि से सम्मत ऐसा गृहस्थ जिनालय बनावे ।

तत्र शुद्धां महीमादौ गृह्णीयाच्छास्त्रनीतितः ।
परोपतापरहितां भविष्यदभद्रसन्ततिम् ।।३।।

इस प्रसंग में सर्वप्रथम दूसरों की अप्रीति से रहित ऐसी और भविष्य में कल्याण की परम्परा प्राप्त हो उस रीति से शुद्ध भूमि को शास्त्रनीति से ग्रहण करना चाहिए ।

अप्रीतिर्नैव कस्यापि कार्या धर्मोद्यतेन वै ।
इत्थं शुभानुबन्धः स्यादत्रोदाहरणं प्रभुः ।।४।।

- धर्म करने में प्रयत्नशील व्यक्ति के द्वारा किसी को भी प्रीति हो ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए । इससे शुभ अनुबन्ध की प्राप्ति होती है । इस विषय में भगवान का उदाहरण है ।

आसन्नोऽपि जनस्तत्र मान्यो दानादिना यतः ।
इत्थं शुभाऽऽशयस्फात्या बोधिवृद्धिः शरीरिणाम् ।।५।।

जिनालय के समीप रहनेवाले व्यक्तियों का भी दान आदि से सम्मान करना चाहिए । इस प्रकार जीवो के शुभभाव स्फुरमान होने से सम्यग्दर्शन की वृद्धि होती है ।

इष्कादि दलं चारु दारु वा सारवन्नवम् ।
गवाद्यपीडया ग्राह्यं मूल्यौचित्येन यत्नतः ।।६।।

ईंट आदि सामग्री अथवा लकड़ी सुंदर नवीन एवं मजबूत लाना चाहिए। वे भी बैल आदि को पीड़ा न हो इस प्रकार उचित मूल्य से प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिए ।

भृतका अपि सन्तोष्याः स्वयं प्रकृतिसाधवः ।
धर्मो भावेन न व्याजाद्धर्ममित्रेषु तेषु तु ।।७।।

स्वयं ही प्रकृति से सज्जन ऐसे (जिनालय के) कारिगरों को संतोष देना चाहिए । क्योंकि धर्ममित्र उन कारिगरो को ठगने के भाव से धर्म निष्पन्न नहीं होता है ।

स्वाशयश्च विधेयोऽत्राऽनिदानो जिनरागतः ।
अन्यारम्भपरित्यागाज्जलादियतनावता ।।८।।

परमात्मा की भक्ति के उद्देश्य से जल आदि संबंधी यतना वाले श्रावक को आरंभ का परित्याग करके तथा निदान रहित होकर शुभाशय करना चाहिए।

इत्थं चैषोऽधिकत्यागात्सदारम्भः फलाऽऽन्वितः ।
प्रत्यहं भाववृद्ध्याऽऽप्तैर्भावयज्ञः प्रकीर्तितः ।।९।।

इस प्रकार जिनालय संबंधी यह प्रवृत्ति अधिक आरंभ के त्याग होने से सद्आरंभ स्वरूप है तथा फल से युक्त है । प्रतिदिन भावों में वृद्धि होने से आसपुरुषों के द्वारा भावयज्ञ कही गई है ।

जिनगेहं विधायैवं शुद्धमव्ययनीवि च ।
द्राक् तत्र कारयेद् बिम्बं साधिष्ठानं हि वृद्धिमत् ।।१०।।

इस प्रकार जिनालय बनाकर, शुद्ध अक्षयनीवि करके शीघ्र ही उस जिनालय में उसे जिनबिंब स्थापित करवाना चाहिए क्योंकि जिनबिंब से अधिष्ठित जिनालय वृद्धिगत होता है ।

विभवोचितमूल्येन कर्तुः पूजापुरःसरम् ।
देयं तदनघस्यैव यथा चित्तं न नश्यति ।।११।।

व्यसनमुक्त शिल्पी को सत्कारपूर्वक स्वयं के वैभव के योग्य मूल्य देना चाहिए । जिससे उसका मन कलुषित न हो ।

यावन्तश्चित्तसन्तोषास्तदा बिम्बसमुद्भवाः ।
तत्कारणानि तावन्तीत्युत्साह उचितो महान् ।।१२।।

जिनबिंब करवाने में जितनी मन की प्रसन्नता उत्पन्न होती है, उतना ही उसका लाभ मिलता है । अतः इस प्रसंग में उचित उत्साह महत्त्वपूर्ण है ।

तत्कर्तरि च याऽप्रीतिस्तत्त्वतः सा जिने स्मृता ।
पूर्या दौर्हृदभेदास्तज्जिनावस्थात्रयाश्रयाः ।।१३।।

शिल्पी पर जो अप्रीति है वह अप्रीति तत्त्व से भगवान के उपर कही गई है । अतः भगवान् की तीन अवस्था के आश्रय से उनके मनोरथ पूर्ण करने चाहिए ।

स्ववित्तस्थेऽन्यवित्ते तत्पुण्याऽऽशंसा विधीयते ।
मन्त्रन्यासोऽर्हतो नाम्ना स्वाहाऽन्तः प्रणवादिकः ।।१४।।

प्रतिमाजी भरवाते समय स्वयं के धन में अन्य का धन होने पर उस व्यक्ति को उस प्रमाण में पुण्य प्राप्त हो इस प्रकार इच्छास्वरुप आशंसा करनी चाहिए, तथा 'ॐ' शब्द आदि में लिखकर बीच में अरिहंत भगवान का नाम लिखकर अंत में स्वाहा शब्द लिखकर मन्त्रन्यास करना चाहिए ।

हेमादिना विशेषस्तु न बिम्बे किन्तु भावतः ।
चेष्टया स शुभो भक्त्या तन्त्रोक्तस्मृतिमूलया ।।१५।।

प्रतिमा में सोने आदि की विशेषता नहीं है, अपितु भाव से विशेषता है। शास्त्रवचन के स्मरणपूर्वक भक्ति से की गई प्रवृत्ति से भाव शुभ होते हैं ।

लोकोत्तरमिदं ज्ञेयमित्थं यद्बिम्बकारणम् ।
मोक्षदं लौकिकं चान्यत् कुर्यादभ्युदयं फलम् ।।१६।।

इस प्रकार प्रतिमा करवाने से लोकोत्तर और मोक्षफल की प्राप्ति होती है ऐसा जानना । इसके विपरीत अन्य प्रकार से जिनप्रतिमा भरवाना वह लौकिक क्रिया कहलाती है और वह लौकिक अभ्युदयस्वरूप फल को देती है । (किंतु मोक्ष नहीं)

इत्थं निष्पन्नबिम्बस्य प्रतिष्ठाप्तैस्त्रिधोदिता ।
दिनेभ्योऽर्वाग्दशभ्यस्तु व्यक्ति-क्षेत्र-महाहव्या ।।१७।।

इस प्रकार तैयार जिनबिम्ब दस दिन के अंदर प्रतिष्ठा करवानी चाहिए। यह प्रतिष्ठा आप्त पुरुषों ने तीन प्रकार की कही है- व्यक्ति प्रतिष्ठा, क्षेत्र प्रतिष्ठा और महा प्रतिष्ठा ।

देवोद्देशेन मुख्येयमाऽऽत्मन्येवात्मनो धियः ।
स्थाप्ये समरसापत्तेरुपचाराद् बहिः पुनः ।।१८।।

भगवान् के उद्देश्य से स्वयं की आत्मा में आत्मबुद्धि की स्थापना करना यह मुख्य प्रतिष्ठा है । क्योंकि उससे वीतरागतुल्यता की प्राप्ति होती है। बाह्य प्रतिष्ठा तो उपचार से जानना ।

प्रतिष्ठिततत्वज्ञानोत्थसमापत्त्या परेष्वपि ।
फलं स्याद्वीतरागाणां सन्निधानं त्वसम्भवि ।।१९।।

प्रतिष्ठाविषयक ज्ञान से उत्पन्न समापत्ति के द्वारा पूजा करनेवाले में भी फल उत्पन्न होता है । वीतराग का सानिध्य तो प्रतिमा में असंभव है।

सम्प्रदायागतं चेह मन्त्रन्यासादि युक्तिमत् ।
अष्टौ दिनान्यविच्छित्त्या पूजा दानं च भावतः ।।२०।।

यहाँ संप्रदाय से आई मंत्रन्यास आदि क्रिया युक्तिसंगत होती है । प्रतिष्ठा के पश्चात् आठ दिन निरंतर भावपूर्वक पूजा करनी चाहिए और दान देना चाहिए।

पूजा प्रतिष्ठितस्येत्थं बिम्बस्य क्रियतेऽर्हतः ।
भक्त्या विलेपन-स्नान-पुष्प धूपादिभिः शुभैः ।।२१।।

इस प्रकार से प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा की विलेपन, स्नात्र, पुष्प, धूप आदि उत्तम द्रव्यों से भक्तिपूर्वक पूजा की जाती है ।

सा च पञ्चोपचारा स्यात् काचिदष्टोपचारिका ।
अपि सर्वोपचारा च निजसम्पद्विशेषतः ।।२२।।

वह पूजा पांच उपचार वाली होती है । कोई पूजा आठ उपचार वाली होती है । उसी प्रकार स्वयं की सम्पत्ति विशेष के अनुसार सर्वोपचारवाली भी पूजा होती है ।

इयं न्यायोत्थवित्तेन कार्या भक्तिमता सता ।
विशुद्धोज्ज्वलवस्त्रेण शूचिना संवृतात्मना ।।२३।।

न्यायोपार्जित धन द्वारा भक्तियुक्त श्रावक को विशुद्ध और उज्ज्वल वस्त्र पहनकर पवित्र होकर अंगोपाग संकोच कर यह पूजा करनी चाहिए।

पिण्ड-क्रिया-गुणोदारैरेषा स्तोत्रैश्च सङ्गता ।
पापगर्हापरैः सम्यक्प्रणिधानपुरः सरैः ।।२४।।

भगवान के शरीर, आचार, गुण द्वारा गंभीर, उसी प्रकार पापगर्हा करने में तत्पर ऐसे स्तोत्र द्वारा सम्यक् प्रणिधानपूर्वक स्तोत्र पूजा करनी चाहिए।

अन्ये त्वाहुस्त्रिधा योगसारा सा शुद्धिचित्ततः ।
अतिचारोज्झिता विघ्नशमाऽभ्युदय-मोक्षदा ।।२५।।

अन्य आचार्यों के द्वारा तीनो योगों से युक्त तथा शुद्धचित्त द्वारा अतिचार रहित वह पूजा तीन प्रकार की कही गयी है- (१) विघ्नशमा, (२) अभ्युदयदायिनी तथा (३) मोक्षदायिनी ।

आद्ययोश्चारुपुष्पाधानयनैतन्नियोजने ।
अन्त्यायां मनसा सर्वं सम्पादयति सुन्दरम् ।।२६।।

तीन योगों से पूजा की निष्पत्ति कैसे होती है ? यह बतलाते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि, काययोग प्रधान पूजा में पूजा के लिए सुंदर पुष्प लाता है तथा वचन योग प्रधान पूजा में पुष्प आदि मंगवाता है । उसी प्रकार मनयोग प्रधान पूजा में पूजक मन के द्वारा सर्व सुंदर पुष्प आदि सामग्री को एकत्रित करता है।

न च स्नानादिना कायवधादत्राऽसि दुष्टता ।
दोषादधिकभावस्य तत्राऽऽनुभविकत्वतः ।।२७।।

स्नान आदि के द्वारा जीवविराधना होने से पूजा में दोष रहा हुआ है, इस प्रकार की शंका नहीं करना चाहिए। क्योंकि दोष से अधिक शुभभाव पूजा में अनुभव सिद्ध है ।

यतिरप्यधिकारी स्यान्न चैवं तस्य सर्वथा ।
भावस्तताऽधिरूढत्वादर्थाऽभावादमूदृशा ।।२८।।

"यदि ऐसा है तो साधु भी द्रव्य जिनपूजा का अधिकारी होगा ।" ऐसा नहीं कहना क्योंकि साधु सम्पूर्णरूप से भावस्तव में आरुढ होने से जिनपूजा के द्वारा उसका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है ।

प्रकृत्यारम्भभीरुर्वा यो वा सामायकादिमान् ।
गृही तस्यापि नाऽत्राऽर्थेऽधिकारित्वमतः स्मृतम् ।।२९।।

इसलिए प्रकृति से पाप भीरू अथवा सामायिकवाला गृहस्थ हो तो उसको भी इस विषय में (पूजा में) अधिकारी नहीं कहा गया हैं ।

अन्यत्रारम्भवान् यस्तु तस्यात्रारम्भशङ्किनः ।
अबोधिरेव परमा विवकौदार्यनाशतः ।।३०।।

जो संसार में आरम्भ-समारम्भ करता हो और पूजा के आरम्भ-समारम्भ में शंका करता हो, उसके विवेक एवं औदार्य का नाश होने से मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है ।

यच्च धर्मार्थमित्यादि तदपेक्ष्य दशान्तरम् ।
सङ्काशादेः किल श्रेयस्युपेत्यापि प्रवृत्तितः ।।३१।।

'धर्मार्थं' इत्यादि श्लोक के द्वारा धर्मनिमित्तक आरंभ का निषेध करने में आया है, वह अवस्था विशेष की अपेक्षा से जानना चाहिए । क्योंकि संकाश श्रावक आदि की धर्मनिमित्त व्यापार की प्रवृत्ति सुनने में आती है ।

पूजया परमान्दमुपकारं विना कथम् ।
ददाति पूज्य इति चेचिन्तामण्यादयो यथा ।।३२।।

पूजा के द्वारा भगवान पर कोई उपकार नहीं होता है तो भगवान परमानन्द रूप मोक्ष किस प्रकार दे सकते है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, जिस प्रकार चिंतामणि रत्न आदि की पूजा करने पर चिंतामणि रत्न आदि को तो कोई लाभ होता नहीं है। किंतु पूजक को उसका फल अवश्य मिलता है। वैसे ही परमात्मा की पूजा भी फलदेनेवाली है ।

साधु सामग्र्यद्वात्रिंशिका - ०६

ज्ञानेन ज्ञानिभावः स्याद् भिक्षुभावश्च भिक्षया ।
वैराग्येण विरक्तत्वं संयतस्य महात्मनः ।।१।।

संयत महात्मा ज्ञान से ज्ञानी होते हैं, भिक्षा के द्वारा भिक्षुक होते हैं, वैराग्य के द्वारा विरक्त होते हैं ।

विषयप्रतिभासाख्यं तथाऽऽत्मपरिणामवत् ।
तत्त्वसंवेदनं चेति, त्रिधा ज्ञानं प्रकीर्त्तितम् ।।२।।

ज्ञान के तीन प्रकार कहे गये है- (१) विषयप्रतिभास ज्ञान, (२) आत्मपरिणाम रूप ज्ञान और (३) तत्त्वसंवेदन ज्ञान।

आद्यं मिथ्यादृशां मुग्धरत्नादिप्रतिभासवत् ।
अज्ञानावरणाऽपायाद् ग्राह्यत्वाद्यविनिश्चयम् ।।३।।

प्रथम विषयप्रतिभास रूप ज्ञान के अन्तर्गत ग्रंथकार कहते है कि, जिस प्रकार मुग्ध जीवों को रत्न आदि का प्रतिभास होता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवों को अज्ञान आवरण के कारण से वस्तु के उपादेयत्व आदि गुणधर्मों का निश्चय होता है ।

भिन्नग्रन्थेर्द्वितीयं तु ज्ञानावरणभेदजम् ।
श्रद्धावत् प्रतिबन्धेऽपि कर्मणा सुख-दुखयुक् ।।४।।

ज्ञानावरण के क्षयोपशम से सम्यग्दृष्टि को दूसरे प्रकार का आत्मपरिणाम रूप ज्ञान होता है । ज्ञान में बाधक तत्त्वो की उपस्थिति होने पर भी वह ज्ञान श्रद्धा से युक्त होता है । उसी प्रकार कर्मों के द्वारा सुख-दुःख से युक्त होता है ।

स्वस्थवृत्तेस्तृतीयं तु सज्ज्ञानावरणव्ययात् ।
साधोर्विरत्यवच्छिन्नमविघ्नेन फलप्रदम् ।।५।।

स्वस्थवृत्तिवाले साधु को सम्यक्त्व मोह के क्षय से तीसरा ज्ञान उत्पन्न होता है । वह ज्ञान विरति से विशिष्ट होता है, तथा बिना विघ्न के फल देनेवाला तत्त्वसंवेदन ज्ञान होता है ।

निष्कम्पा च सकम्पा च प्रवृत्तिः पापकर्मणि ।
निरवद्या च सेत्याहुर्लिङ्गान्यत्र यथाक्रमम् ।।६।।

पाप कार्य में निष्कंप प्रवृत्ति, सकंप प्रवृत्ति और निरवद्य प्रवृत्ति तीन ज्ञान के क्रमिक चिह्न अन्यत्र कहे गये हैं ।

जातिभेदाऽनुमानाय व्यक्तीनां वेदनात्स्वतः ।
तेन कर्माऽन्तरात् कार्यभेदेऽप्येतद्भिदाऽक्षता ।।७।।

जाति विशेष का अनुमान करने के लिए उपरोक्त चिह्न उपयोगी है । क्योंकि अज्ञानी व्यक्ति का भान तो स्वतः हो जाता है । क्योंकि कर्मों के अन्तर से कार्यभेद होने पर भी यह भेद अबाधित हैं ।

योगदेवान्त्यबोधस्य साधुः सामग्र्यमश्नुते ।
अन्यथाऽऽकर्षगामी स्यात् पतितो वा न संशयः ।।८।।

चरम ज्ञान के योग से साधु पूर्णता को प्राप्त करता है, अन्यथा आकर्षगामी होता है अथवा पतित होता है, इसमें कोई संशय नहीं है ।

त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राऽऽद्या सर्वसम्पत्करी मता ।
द्वितीया पौरुषघ्नी स्याद् वृत्तिभिक्षा तथाऽन्तिमा ।।९।।

भिक्षा भी तीन प्रकार की होती है- प्रथम सर्वसम्पत्करी भिक्षा, दूसरी पौरुषघ्नी भिक्षा और अन्तिम वृत्तिभिक्षा है ।

सदाऽनारम्भहेतुर्या सा भिक्षा प्रथमा समृता ।
एकबाले द्रव्यमुनौ सदाऽनारम्भिता तु न ।।१०।।

जो सदा अनारम्भ का हेतु है वह भिक्षा प्रथम सर्वसम्पत्करी है । किंतु एक प्रकार से बाल ऐसे द्रव्यमुनि में सदा अनारम्भ भिक्षा नहीं होती है ।

दीक्षाविरोधिनी भिक्षा पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता ।
धर्मलाघवमेव स्यात्तया पीनस्य जीवतः ।।११।।

दीक्षा विरोधी भिक्षा पौरुषघ्नी भिक्षा कही गई है। हृष्ट-पुष्ट जीव का इस भिक्षा के द्वारा धर्मलाघव ही प्रदशित होता है ।

क्रियान्तराऽसमर्थत्वप्रयुक्ता वृत्तिसंज्ञिका ।
दीनान्दाादिष्वियं सिद्धपुत्रादिष्वपि केषुचित् ।।१२।।

भिक्षा के अतिरिक्त अन्य क्रिया करने का सामर्थ्य न होने से वह भिक्षा वृत्ति नाम की भिक्षा होती है । गरीब, अन्ध आदि में यह वृत्तिभिक्षा होती है। कुछ सिद्धपुत्र आदि में भी यह भिक्षा होती है ।

अन्याऽबाधेन सामग्र्यं मुख्यया भिक्षयाऽलिवत् ।
ग्रहणतः पिण्डमकृतमकारितमकल्पितम् ।।१३।।

अन्य को पीड़ा न हो इस प्रकार भँवरे के समान अकृत अकारित और अकल्पित ऐसे पिंड को मुख्य भिक्षा के द्वारा गृहण करने से साधु का संयम पूर्ण होता है ।

नन्वेवं सद्गृहस्थानां गृहे भिक्षा न युज्यते ।
अनात्मम्भरयो यत्नं स्व-परार्थं हि कुर्वते ।।१४।।

साधु के उद्देश्य से बना आहार साधु को कल्प्य नहीं है, इसमें शंका होती है कि, इस प्रकार की भिक्षा का गृहस्थों के घर में योग नहीं होता है। क्योंकि सद्गृहस्थ स्वार्थी न होने से स्व और पर के लिए प्रयत्न करते हैं ।

सङ्कल्पभेदविरहो विषयो यावदर्थिकम् ।
पुण्यार्थिकं च वदता दुष्टमत्र हि दुर्वचः ।।१५।।

सभी याचको के उद्देश्य से और पुण्यनिमित्तक आहार आदि दोषित है ऐसा कहने वाले के द्वारा कहा जाता है कि, विशेष प्रकार (यति) के संकल्प का अभाव उसका विषय है तो यह वचन भी अयोग्य है ।

उच्यते विषयोऽत्राऽयं भिन्ने देये स्वभोगतः ।
सङ्कल्पनं क्रियाकाले दुष्टं पुष्टमियत्तया ।।१६।।

यहाँ यह विषय कहा जाता है कि यदि रसोई बनाते समय इतना हमारा और इतना साधु के लिए इस प्रकार का संकल्प हो तो स्वयं के उपभोग से भिन्न ऐसा देने योग्य वह आहार दोषग्रस्त है ।

स्वोचिते तु तदारम्भे निष्ठिते नाऽविशुद्धिमत् ।
तदर्थकृतिनिष्ठाभ्यां चतुर्भङ्ग्या द्वयोर्ग्रहात् ।।१७।।

स्वयं के योग्य, स्वयं के लिए आरंभ करके पूर्ण हुआ हो, वह पिंड अविशुद्ध नहीं माना जाता है । क्योंकि उनके लिए आरंभ और समाप्ति द्वारा चतुर्भंगी में से दो भांगे ग्रहण होते हैं ।

प्राय एवमलाभः स्यादिति चेद् ? बहुधाप्ययम् ।
सम्भवीत्यत एवोक्तो यतिधर्मोऽतिदुष्करः ।।१८।।

प्रायः इस प्रकार से गौचरी नहीं मिल सकती है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए । क्योंकि अनेक प्रकार से निर्दोष गौचरी का लाभ सम्भव हो सकता है। इसीलिए साधु धर्म अत्यंत दुष्कर कहा है ।

सङ्कल्पितस्य गृहिणा त्रिधा शुद्धिमतो ग्रहे ।
को दोष इति चेज्ज्ञाते प्रसङ्गात्पापवृद्धितः ।।१९।।

गृहस्थ के द्वारा साधु के लिए संकल्पित ऐसे भोजनादि ग्रहण करने से मन-वचन-काया से शुद्ध ऐसे साधु को क्या दोष लगता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्ञान होने पर भी गृहण करने में आता है तो उसकी पुनरावृत्ति होने से पाप की वृद्धि होती है ।

यत्यर्थं गृहिणश्चेष्टा प्राण्यारम्भप्रयोजिका ।
यतेस्तद्वर्जनोपायहीना सामग्र्यघातिनी ।।२०।।

गृहस्थ साधु के लिए जीवहिंसक प्रयोजक प्रवृत्ति करता है तब भी यदि साधु उसके वर्जन का उपाय नहीं करता है तो संयम की पूर्णता खंडित होती है ।

वैराग्यं च स्मृतं दुःख-मोह-ज्ञानान्वितं त्रिधा ।
आर्त्तध्यानाख्यमाद्यं स्याद्यथाशक्त्यप्रवृत्तितः ।।२१।।

वैराग्य तीन प्रकार के कहे गये है- (१) दुःखगर्भित, (२) मोहगर्भित और (३) ज्ञानगर्भित वैराग्य । यथाशक्ति प्रवृत्ति न करने से प्रथम वैराग्य आर्तध्यान रूप होता है ।

अनिच्छा ह्यत्र संसारे स्वेच्छालाभादनुत्कटा ।
नैर्गुण्यदृष्टिजं द्वेषं विना चित्ताङ्गखेदकृत् ।।२२।।

इस वैराग्य में स्वेच्छा अनुसार लाभ न होने से संसार का वैराग्य मंद होता है । निर्गुणता की दृष्टि से उत्पन्न द्वेष के बिना संसार का मंद वैराग्य चित्त और काया को खेद करनेवाला होता है ।

एकान्तात्मग्रहोद्भूतभवनैर्गुण्यदर्शनात् ।
शान्तस्यापि द्वितीयं सज्ज्वराऽनुद्भवसन्निभम् ।।२३।।

एकान्त आत्मा को गृहण करने से उत्पन्न, संसार की असारता के दर्शन से शान्त बने आत्मा को द्वितीय प्रकार का वैराग्य होता है । ज्वर के होने पर भी अप्रगट ज्वर के समान यह वैराग्य होता है ।

स्याद्वादविद्यया ज्ञात्वा बद्धानां कष्टमङ्गिनाम् ।
तृतीयं भवभीभाजां मोक्षोपाय प्रवृत्तिमत् ।।२४।।

कर्मबद्ध जीवों के दुःख को स्याद्वाद दृष्टि से जानकर संसार से भयभीत जीवों को ज्ञानगर्भित नाम का तृतीय वैराग्य होता है । वह मोक्ष के उपाय में प्रवृत्ति करवाता है ।

सामग्र्यं स्यादनेनैव द्वयोस्तु स्वोपमर्दतः ।
अत्राऽङ्गत्वं कदाचित्स्याद् गुणवत्पारतन्त्र्यतः ।।२५।।

साधुत्व की संपूर्णता ज्ञानगर्भित वैराग्य से ही होती है । शेष दो वैराग्य तो कदाचित् गुणवान की परतन्त्रता से स्वयं नष्ट होकर ज्ञानगर्भित वैराग्य की प्राप्ति में उपकारी बनते हैं ।

भावशुद्धिरपि न्याय्या न मार्गाऽननुसारिणी ।
अप्रज्ञाप्यस्य बालस्य विनैतत्स्वागृहात्मिका ।।२६।।

गुरु आज्ञा के बिना अज्ञानी कदाग्रही जीव की भावशुद्धि भी आगममान्य नहीं है । क्योंकि वह कदाग्रह रूप होने से मोक्षमार्ग के अनुसार नहीं है ।

मोहानुत्कर्षकृच्चैतदत एवापि शास्त्रवित् ।
क्षमाश्रमणहस्तेनेत्याह सर्वेषु कर्मसु ।।२७।।

गुरु आज्ञा मोह को घटानेवाली है इसलिए शास्त्रवेत्ता भी सर्व क्रियाओं में 'क्षमाश्रमण साधु के हाथ से' ऐसा कहते हैं ।

यस्तु नाऽन्यगुणान् वेद न वा स्वगुणदोषवित् ।
स एवैतन्नाद्रियते न त्वासन्नमहोदयः ।।२८।।

जो दुसरों के गुणों को अथवा स्वयं के दोष को जानता नहीं है, वही गुणवान् गुरु की आज्ञा नहीं स्वीकारता है । न कि जो मोक्ष के निकटवर्ती है वह ।

गुणवद्बहुमानाद्यः कुर्यात्प्रवचनोन्नतिम् ।
अन्येषां दर्शनोत्पत्तेस्तस्य स्यादुन्नतिः परा ।।२९।।

गुणवान के प्रति बहुमान से जो जिनशासन की उन्नति करता है, जिससे अन्य जीवों को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने के कारण उस जीव की उत्कृष्ट आत्मोन्नति होती है ।

यस्तु शासनमालिन्येऽनाभोगेनाऽपि वर्तते ।
बध्नाति स तु मिथ्यात्वं महाऽनर्थनिबन्धनम् ।।३०।।

अज्ञानता में भी यदि शासन हीलना की प्रवृत्ति होती है तो वह महाअनर्थकारी मिथ्यात्व का बंधन करती है ।

स्वेच्छाचारे च बालानां मालिन्यं मार्गबाधया ।
गुणानां तेन सामग्र्यं गुणवत्पारतन्त्र्यतः ।।३१।।

बाल जीवों की स्वच्छंद प्रवृत्ति होने पर जिनशासन की निंदा होती है। अतः गुणवान् गुरु की आज्ञा से गुणों की पूर्णता होती है ।

इत्थं विज्ञाय मतिमान् यतिगीतार्थसङ्गकृत् ।
त्रिधा शुद्ध्याऽऽचरन् धर्मं परमानन्दमश्नुते ।।३२।।

इस प्रकार जानकर जो प्राज्ञसाधु गीतार्थ का संग करता है और तीन प्रकार की शुद्धि से धर्म का आचरण करता है वह परमानन्द को प्राप्त करता है ।

धर्मव्यवस्थाद्वात्रिंशिका - ०७

भक्ष्याऽभक्ष्यविवेकाच्च गम्याऽगम्यविवेकतः ।
तपो-दयाविशेषाच्च स धर्मो व्यवतिष्ठते ।।१।।

भक्ष्य-अभक्ष्य के विवेक से, गम्य-अगम्य के विवेक से, विशिष्ट तप तथा दया से धर्म व्यवस्थित होता है ।

भक्ष्यं मांसमपि प्राह कश्चित्प्राण्यङ्गभावतः ।
ओदनादिवदित्येवमनुमानपुरःसरम ।।२।।

'मांस भी भक्ष्य है' क्योंकि चावल आदि के समान वह प्राणी का अंग है इस प्रकार के अनुमान के द्वारा कुछ लोग मांस को भी भक्ष्य कहते हैं ।

स्वतन्त्रसाधनत्वेऽदोऽयुक्तं दृष्टान्तदोषतः ।
प्रसङ्गसाधनत्वेऽपि बाधकत्वाद् व्यवस्थितेः ।।३।।

यदि यह अनुमान स्वतन्त्रसाधन है तो अयुक्त है क्योंकि उदाहरण दोष युक्त है । यदि प्रसंगसाधन है तो भी अयुक्त है क्योंकि व्यवस्था में बाधक है।

व्यवस्थितं हि गोः पेयं क्षीरादि रुधिरादि न ।
न्यायोऽत्राप्येष नो चेत्स्याद् भिक्षुमांसादिकं तथा ।।४।।

गाय का दुध आदि पीने योग्य है न कि रक्त यह उचित है। प्रस्तुत प्रसंग में यह तर्क योग्य है अन्यथा बौद्ध साधु का मांस आदि भी भक्ष्य मानने का प्रसंग आएगा।

प्राण्यङ्गत्वादभक्ष्यत्वं न हि मांसे मतं च नः ।
जीवसंसक्तिहेतुत्वात् किन्तु तद् गर्हितं बुधैः ।।५।।

प्राणी का अंग होने से मांस अभक्ष्य है, ऐसा हमारा मत नहीं है । किंतु जीव की उत्त्पत्ति का हेतु होने से पंडितो ने मांस का निषेध किया है ।

पच्यमानाऽऽम-पक्वासु मांसपेशीषु सर्वथा ।
तन्त्रे निगोदजीवानामुत्पत्तिर्भणिता जिनैः ।।६।।

जिनेश्वर भगवन्तो के द्वारा शास्त्र में कहा गया है कि, पकते हुए मांस में तथा पकेहुए मांस में निश्चित रूप से निगोद जीवो की उत्पत्ति होती है ।

सूत्राणि कानिचिच्छेदोपभोगादिपराणि तु ।
अमद्यमांसाऽशितया न हन्यन्ते प्रसिद्धया ।।७।।

कितने ही छेद सूत्र, उपभोग आदि के सूचक होने से 'साधु मद्यपान अथवा मासभक्षण न करे' ऐसी प्रसिद्धि से कोई विरोध नहीं आता है ।

न प्राण्यङ्गसमुत्थं चेत्यादिना वोऽपि वारितम् ।
लङ्कावतारसूत्रादौ तदित्येतद्वृथोदितम् ।।८।।

बौद्धो के लंकावतारसूत्र में भी प्राणी के अंगो से उत्पन्न मांस नही खाना' इस प्रकार का निषेध किया गया है ।

न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।।९।।

मांसभक्षण, मदिरापान और मैथुन सेवन में कोई दोष नहीं है । क्योंकि ये तो प्राणीयों की प्रकृति ही है । किंतु इनकी निवृत्ति महान फल देनेवाली है।

भक्ष्यं मांसं परः प्राहाऽनालोच्य वचनादतः ।
जन्मान्तराऽर्जनाद्दुष्टं न चैतद्वेद यत्स्मृतम् ।।१०।।

उपरोक्त कथन के द्वारा परवादियों ने मांस भक्षण को अनिंदित कहा है। किंतु संसार का उपार्जन होने से मांस भक्षण दोषयुक्त है और यह मनुस्मृति में भी बताया गया है ।

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ।।११।।

मुझे वो परलोक में भक्षण करेंगे जिनका मांस में यहाँ खाता हूँ । यह मांस शब्द की व्युत्पत्ति है ऐसा पंडितजन कहते हैं ।

निषेधः शास्त्र बाह्योऽस्तु विधिः शास्त्रीयगोचरः ।
दोषो विशेषतात्पर्यान्नन्वेवं न यतः स्मृतम् ।।१२।।

शास्त्र बाह्य में मांसभक्षण का निषेध किया गया है और शास्त्रों में मांसभक्षण का विधान किया गया है । इस प्रकार विशेष तात्पर्य का आश्रय लेने से विरोध दोष नहीं आता है । इस प्रकार मनुस्मृति में कहा गया है ।

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ।।१३।।

ब्राह्मणों की सहमति से विधिपूर्वक नियुक्त व्यक्ति को प्रोक्षित मांस को खाना चाहिए । प्राणों का नाश होने पर भी मांस खाना चाहिए ।

नैतन्निवृत्त्ययोगेन तस्याः प्राप्तिनियन्त्रणात् ।
प्राप्ते तस्याः निषेधेन यत एतदुदाहृतम् ।।१४।।

यह बात ठीक नहीं है । क्योंकि इस प्रकार मांसभक्षण की निवृत्ति असंभव है, निवृत्ति तो प्राप्ति से नियंत्रित होती है । प्राप्त ऐसे मांसभक्षण को उद्देश्य कर निवृति का तुम निषेध करते हो ।

यथाविधि नियुक्तस्तु यो मांसं नात्ति वै द्विजः ।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ।।१५।।

विधि के अनुसार नियुक्त हुआ जो ब्राह्मण मांस नहीं खाता है वह २१ जन्म तक परलोक में पशुत्व को प्राप्त करता हैं ।

अधिकारपरित्याग् पारिव्राज्येऽस्तु तत्फलम् ।
इति चेत्तदभावे नाऽदुष्टतेत्यपि सङ्कटम् ।।१६।।

''परिव्राजक अवस्था में अधिकार का त्याग होने मांसभक्षण निवृत्ति का फल मिलता है ।'' इस प्रकार कहने पर यदि परिव्राजकता नहीं स्वीकारे तो मांसभक्षण की निर्दोषता साबित नहीं होती है । अतः दोष का संकट सिर पर आता है ।

मद्येऽपि प्रकटो दोषः श्री-ह्रीनाशादिरैहिकः ।
सन्धानजीवमिश्रत्वान्महानामुष्मिकोऽपि च ।।१७।।

मद्यपान में धननाश, लज्जानाश आदि इस लोक में नुकसान तथा मद्य अनेक जीवों से युक्त होने पर परलोक में भी महान अहित स्पष्ट है ।

नियमेन सरागत्वाद् दुष्टं मैथुनमप्यहो ।
मूलमेतदधर्मस्य निषिद्धं योगिपुङ्गवैः ।।१८।।

अहो ! नियम से रागयुक्त होने से मैथुन दोषपूर्ण है । अधर्म का मूल होने से योगियों द्वारा इसक निषेध किया गया है ।

धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिणः ।
ऋतुकाले न तद्दुष्टं क्षुधादाविव भोजनम् ।।१९।।

मैथुन को निर्दोष माननेवाला प्रतिपक्ष का मत बतलाते हुए ग्रंथकार कहते है कि, धर्म के लिए पुत्र की कामनावाला तथा स्वयं की पत्नी पर अधिकारवाला गृहस्थ ऋतु समय में पत्नी के साथ मैथुन सेवन करे तो दोषपूर्ण नहीं है। जैसे कि भुख के समय भोजन निर्दोष है ।

नैवमित्थं स्वरूपेण दुष्टत्वान्निबिडापदि ।
श्वमांसभक्षणस्येवाऽऽपवादिकनिभत्वतः ।।२०।।

इस प्रकार कहना योग्य नहीं क्योंकि भयंकर आपत्ति में कुत्ते का मांस खाने की आपवादिक प्रवृत्ति के समान मैथुन सेवन स्वरूप से दुष्ट ही है ।

वेदं ह्यधीत्य स्नायाद्यत्तत्रैवाऽधीत्यसङ्गतः ।
व्याख्यातस्तदसावर्थो ब्रूते हीनां गृहस्थताम् ।।२१।।

उपरोक्त बात का समर्थन करने के लिए ग्रंथकार कहते है कि, वेद का अध्ययन कर पत्नी को स्वीकार करने के लिए स्नान करना इस वेद वाक्य में 'पढ़कर' शब्द के बाद 'ही' शब्द की व्याख्या की गई है यह बात गृहस्थ जीवन की हीनता को दर्शाता है ।

अदोषकीर्त्तनादस्य प्रशंसा तद्सङ्गता ।
विध्युक्तेरिष्टसंसिद्धेर्बहुलोकप्रवृत्तितः ।।२२।।

हीन गृहस्थजीवन में मैथुन सेवन निर्दोष है ऐसा कहने से उसकी प्रशंसा होती है। वह असंगत है क्योंकि इस प्रकार मैथुन सेवन का विधान करने से उसमें इष्टता सिद्ध होने पर अनेक लोगों की उसमें प्रवृत्ति होती है ।

निवृत्ति किञ्च युक्ता भोः सावद्यस्येतरस्य वा ।
आद्ये स्याद् दुष्टता तेषामन्त्ये योगाद्यनादरः ।।२३।।

सुनो ! सावद्य कार्य की निवृत्ति योग्य है कि निरवद्यकी । यदि सावद्य की निवृत्ति युक्त है तो मैथुन सेवन दोषपूर्ण साबित होता है और निरवद्य की निवृत्ति युक्त मानने पर योग आदि धर्मसाधना का अनादर होता है ।

माध्यस्थ्यं केचिदिच्छन्ति गम्याऽगम्याऽविवेकतः ।
तन्नो विपर्ययादेवानर्गलेच्छानिरोधतः ।।२४।।

गम्य और आगम्य का कोई भेदभाव न होने से कई लोग मध्यस्थता की इच्छा करते है वह ठीक नहीं है, क्योंकि गम्यागम्य के विवेक से ही अमर्यादित इच्छा का निरोध होता है ।

नाऽऽद्रियन्ते तपः केचिद्दुःखरूपतयाऽबुधाः ।
आर्तध्यानादिहेतुत्वात्कर्मोदयसमुद्भवात् ।।२५।।

कितने ही अज्ञानी लोग तप को दुःख रूप मानकर उसका आचरण नहीं करते हैं । आर्त्तध्यान का हेतु होने से तथा कर्मोदय के उत्पन्न होने से वे तप को दुःखमय मानते हैं ।

यथासमाधानविधेरन्तः सुखनिषेकतः ।
नैतज्ज्ञानादियोगेन क्षायोपशमिकत्वतः ।।२६।।

तप को दुःख रूप मानना उपरोक्त बौद्ध मत ठीक नहीं है । क्योंकि समाधि रहे इस प्रकार तप करने का विधान है । तप से चित्त में प्रसन्नता का संचार होता है तथा ज्ञान के योग से तप क्षायोपशमिक धर्म रूप है ।

दयापि लौकिकी नेष्टा षट्कायानवबोधतः ।
ऐकान्तिकी च नाऽज्ञानान्निश्चयव्यवहारयोः ।।२७।।

षड्जीवनिकाय का बोध न होने से लौकिक दया भी इष्ट नहीं है । निश्चय और व्यवहार का बोध न होने से एकान्तिक दया भी इष्ट नहीं है ।

व्यवहारात्परप्राणरक्षणं यतनावतः ।
निश्चयन्निर्विकल्पस्वभावप्राणाऽवनं तु सा ।।२८।।

यतनावान पर अन्य जीव के प्राण का रक्षण करता है वह व्यवहार नय से दया है । निश्चयनय से तो निर्विकल्प स्वभाव रूप स्वयं के भाव प्राण का रक्षण करना वह दया है ।

यत्नतो जीवरक्षार्था तत्पीडाऽपि न दोषकृत् ।
अपीडनेऽपि पीडैव भवेदयतनावतः ।।२९।।

यतना से जीव रक्षा के लिए प्रवृत्त होने में जीव को पीड़ा हो तो भी दोषकारक नहीं है । यतना रहित जीव पर पीड़ा न करे तो भी हिंसा होती है ।

रहस्यं परमं साधोः समग्रश्रुतधारिणः ।
परिणामप्रमाणत्वं निश्चयैकाग्रचेतसः ।।३०।।

समग्रश्रुत को धारण करनेवाला साधु जब निश्चय नय में एकाग्र चित्तवाला होता है तब श्रेष्ठ रहस्यभूत बात दर्शाता है कि भाव ही प्रमाण है।

तिष्ठतो न शुभो भावो ह्यसदायतनेषु च ।
गन्तव्यं तत्सदाचारभावाऽभ्यन्तरवर्त्मना ।।३१।।

असत् प्रवृत्ति में स्थित व्यक्ति को प्रायः शुभ परिणाम नहीं होता है । इसलिए सदाचार और शुद्ध भाव के द्वारा आंतरिक मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ना चाहिए।

विदित्वा लोकमुत्क्षिप्य लोकसंज्ञां च लभ्यते ।
इत्थं व्यवस्थितो धर्मः परमानन्दकन्दभूः ।।३२।।

लोक को ज्ञानकर लोक संज्ञा को छोड़कर उपरोक्त प्रामाणिक धर्म प्रास होता है जो परमानन्द रूपी कंद का उत्पत्ति स्थान है ।

वादद्वात्रिंशिका - ०८

शुष्कवादो विवादश्च धर्मवादस्तथापरः ।
कीर्तितस्त्रिविधो वाद इत्येवं तत्त्वदर्शिभिः ।।१।।

शुष्कवाद, विवाद और धर्मवाद इस प्रकार तीन के वाद तत्त्वद्रष्टाओं के द्वारा कहे गये हैं ।

पराऽनर्थो लघुत्वं वा विजये च पराजये ।
यत्रोक्तौ सह दुष्टेन शुष्कवादः स कीर्तितः ।।२।।

दुष्ट प्रतिवादि के साथ वाद करने में वादि को विजय होने पर प्रतिवादि को हानी होती है, तथा वादि को पराजय होने पर शासन की लघुता प्राप्त होती है; अतः वह वाद शुष्कवाद कहा गया है ।

छल-जातिप्रधानोक्तिर्दुःस्थितेनाऽर्थिना सह ।
विवादोऽत्रापि विजयाऽलाभो वा विघ्नकारिता ।।३।।

सम्मान के अर्थी ऐसे दरिद्र और दुस्थित प्रतिवादि के साथ छल-जाति प्रधान जो चर्चा होती है उसे विवाद कहा जाता है । यहाँ विजय नहीं मिलती है अथवा प्रतिवादि की ओर से विघ्न होता है।

ज्ञातस्वशास्त्रतत्त्वेन मध्यस्थेनाऽघभीरुणा ।
कथाबन्धस्तत्त्वधिया धर्मवादः प्रकीर्तितः ।।४।।

- जिसने स्वयं के शास्त्र के तत्त्वों को समझ लिया हो जो मध्यस्थ तथा पापभिरु हो वैसे प्रतिवादि के साथ तत्त्वबुद्धि से जो चर्चा की जाती है वह धर्मवाद कहा जाता है ।

वादिनो धर्मबोधादि विजयेस्य महत्फलम् ।
आत्मनो मोहनाशश्च प्रकटस्तत्पराजये ।।५।।

धर्मवाद में वादी की विजय होने पर प्रतिवादि को धर्मबोध आदि महान फल होता है । तथा वादि को पराजय होने पर वादि का तत्त्वविषयक अज्ञान नष्ट होता है । यह बात स्पष्ट है ।

अयमेव विधेयस्तत्तत्त्वज्ञेन तपस्विना ।
देशाद्यपेक्षयाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरु-लाघवम् ।।६।।

इस प्रकार धर्मवाद दोनों को लाभकारी होने से तत्त्ववेत्ता तपस्वियो को यह धर्मवाद ही करना चाहिए । देश-काल आदि की अपेक्षा से लाभ-हानी को जानकरं अन्य वाद भी की जा सकते है ।

अत्र ज्ञातं हि भगवान् यत्स नाऽभाव्यपर्षदि ।
दिदेश धर्ममुचिते देशेऽन्यत्र दिदेश च ।।७।।

इस प्रसंग में भगवान् महावीर का उदाहरण है उन्होंने अयोग्य सभा में धर्मदेशना नहीं दी और अन्यत्र उचित स्थान में देशना दी ।

विषयो धर्मवादस्य धर्मसाधनलक्षणः ।
स्वतन्त्रसिद्धः प्रकृतोपयुक्तोऽसद्ग्रहव्यये ।।८।।

धर्मवाद विषय स्वतंत्र प्रसिद्ध धर्मसाधन रूप है । कदाग्रह के व्यय होने पर धर्मवाद का विषय मोक्षसाधक बनता है ।

यथाऽहिंसादयः पञ्च-व्रत-धर्म-यमादिभिः ।
पदैः कुशलधर्माद्यैः कथ्यन्ते स्वस्वदर्शने ।।९।।

जिस प्रकार अहिंसा आदि पांच धर्म साधन है । वे पांचों अपने-अपने दर्शनो में व्रत, धर्म, यम, कुशलधर्म आदि पदो से कहे गए हैं ।

मुख्यवृत्त्या क्व युज्यन्ते न वैतानि क्व दर्शने ।
विचार्यमेतन्निपुणैरव्यग्रेणाऽन्तरात्मना ।।१०।।

प्रमुखता से अहिंसा आदि पांच धर्मसाधन किस धर्मदर्शन में युक्तिपूर्वक संगत है अथवा किस धर्मदर्शन में संगत नहीं यह बात निपुणवादियों को एकाग्र मन से विचार करना चाहिए।

प्रमाणलक्षणादेस्तु नोपयोगोऽत्र कश्चन ।
तन्निश्चयेऽनवस्थानादन्यथाऽर्थस्थितेर्यतः ।।११।।

प्रमाण लक्षण आदि यहाँ कोई उपयोगी नहीं है। क्योंकि उसका निश्चय होने में अनवस्था दोष आता है । अन्यथा अर्थात् प्रमाण लक्षण के निश्चय के बिना भी धर्मसाधन के विषय की सिद्धि हो सकती है ।

प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ।।१२।।

प्रमाण तो प्रसिद्ध है तथा प्रमाण कृत व्यवहार भी प्रसिद्ध है। इसलिए प्रमाण लक्षण कहने में कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता है ।

न चार्थसंशयापत्तिः प्रमाणेऽतत्त्वशङ्कया ।
तत्राप्येतदविच्छेदाद्धेत्वभावस्य साम्यतः ।।१३।।

प्रमाण ज्ञान में अप्रमाण की शंका द्वारा अर्थ संशय होने की समस्या आती है ऐसा न कहे क्योंकि प्रमाण लक्षण में भी अप्रमाण की शंका का विच्छेद नहीं होता है। शंका के कारणो का अभाव तो दोनों स्थान पर समान हैं ।

अर्थयाथात्म्यशङ्का तु तत्त्वज्ञानोपयोगिनी ।
शुद्धार्थस्थापकत्वं च तन्त्रं सद्दर्शनग्रहे ।।१४।।

अर्थ की यथार्थता की शंका तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी है । शुद्ध अर्थ का प्रमात्मक बोध का जो जनक है वह सद्दर्शन को ग्रहण करने में सहयोगी बनता है ।

तत्राऽऽत्मा नित्य एवेति येषामेकान्तदर्शनम् ।
हिंसादयः कथं तेषां कथमप्यात्मनोऽव्ययात् ।।१५।।

इस प्रसंग में 'आत्मा नित्य ही है' इस प्रकार जिसका एकान्त दर्शन है उनके मत से हिंसा आदि किस प्रकार संगत है ? क्योंकि उनके अनुसार आत्मा का किसी प्रकार नाश नहीं हो सकता है ।

मनोयोगविशेषस्य ध्वंसो मरणमात्मनः ।
हिंसा तच्चेन्न तत्त्वस्य सिद्धे रर्थसमाजतः ।।१६।।

विशिष्ट मनोयोग का नाश आत्मा का मरण है और यही हिंसा है । ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि उसका नाश तो कारण समुदाय से सिद्ध है ।

शरीरेणाऽपि सम्बन्धो नित्यत्वेऽस्य न सम्भवी ।
विभुत्वेन च संसारः कल्पितः स्यादसंशयम् ।।१७।।

आत्मा को सर्वथा नित्य मानने पर शरीर के साथ संबंध भी संभव नहीं हो सकता है और आत्मा सर्वव्यापि मानने से संसार भी निश्चित ही कल्पित होगा ।

अदृष्टाद्देहसंयोगः स्यादन्यतरकर्मजः ।
इत्थं जन्मोपपत्तिश्चेन्न तद्योगाऽविवेचनात् ।।१८।।

अन्यतर अर्थात् आत्मा शरीर दोनो में से एक की (देह की) क्रिया से अदृष्ट कर्मजन्य देह संयोग आत्मा में संभव है । इस प्रकार जन्म-मरण संभव है । इस प्रकार नहीं कहना चाहिये क्योंकि शरीर के संयोग का विवेचन नहीं किया जा सकता है ।

आत्मक्रियां विना च स्यान्मिताऽणुग्रहणं कथम् ।
कथं संयोग भेदादिकल्पना चापि युज्यते ? ।।१९।।

आत्मा की क्रिया के बिना परिमित परमाणुओं का ग्रहण भी किस प्रकार संगत होगा ? उसी प्रकार संयोग विशेष आदि की कल्पना भी किस प्रकार संगत होगी ?

अनित्यैकान्तपक्षेऽपि हिंसादीनामसम्भवः ।
नाशहेतोरयोगेन क्षणिकत्वस्य साधनात् ।।२०।।

एकान्त अनित्य पक्ष में भी हिंसा आदि संभव नहीं है । क्योंकि नाश का हेतु संगत न होने से वस्तु मात्र में क्षणिकता की सिद्धि करने में आती है ।

न च सन्तानभेदस्य जनको हिंसको मतः ।
सांवृतत्वादजन्यत्वाद् भावत्वनियतं हि तत् ।।२१।।

सन्तान विशेष के जनक को तुम हिंसक नहीं मानते हो । किंतु संतान बौद्ध मत में काल्पनिक होने से वह अजन्य है । सत्त्व (भावत्त्व) जन्यत्त्व का व्यापक है ।

नरादिक्षणहेतुश्च शूकरादेर्न हिंसकः ।
शूकराऽन्त्यक्षणेनैव व्यभिचारप्रसंगतः ।।२२।।

नर आदि क्षण का हेतु है उसे शूकर का हिंसक नहीं मान सकते हैं। क्योंकि शूकर आदि के अन्त्यक्षण के द्वारा ही व्यभिचार का प्रसंग आता है।

अन्तरक्षणोत्पादे बुद्ध-लुब्धकयोस्तुला ।
नैवं तद्विरतिः क्वापि ततः शास्त्राद्यसङ्गतिः ।।२३।।

अनन्तरक्षण उत्पत्ति मानने पर बुद्ध और शिकारी दोनों समान हो जाएंगे। इस प्रकार मानने से कभी भी हिंसा से विरती नहीं हो सकती है। अतः शास्त्र आदि से असंगति होगी।

घटन्ते न विनाऽहिंसां सत्यादीन्यपि तत्त्वतः ।
एतस्या वृत्तिभूतानि तानि यद् भगवाञ्जगौ ।।२४।।

अहिंसा के बिना तत्त्वतः सत्य आदि भी संभव नहीं है । क्योंकि अहिंसा की वाड़रूप सत्य आदि धर्मसाधन है। ऐसा भगवान ने कहा है ।

मौनीन्द्रे च प्रवचनेयुज्यते सर्वमेव हि ।
नित्याऽनित्ये स्फुटं देहाद् भिन्नाऽभिन्ने तथाऽत्मनि ।।२५।।

मौनीन्द्र श्री वीतराग सर्वज्ञ के प्रवचन में आत्मा नित्यानित्य तथा देह से भिन्नाभिन्न माना गया है । अतः हिंसा-अहिंसा आदि सभी संभव हो सकते हैं।

पीडाकर्त्तृत्वतो देहव्यापत्त्या दुष्टभावतः ।
त्रिधा हिंसाजिनप्रोक्ता न हीत्थमपहेतुका ।।२६।।

पीडाकर्तृत्व से, देहनाश से तथा दुष्टभाव से तीन प्रकार की हिंसा भगवान ने कही है । इस प्रकार हिंसा आदि निर्हेतुक नहीं है ।

हन्तुर्जाग्रति को दोषो हिंसनीयस्य कर्मणि ।
प्रसक्तिस्तदभावे चाऽन्यत्राऽपीति मुधा वचः ।।२७।।

जिसकी हिंसा हो रही है, उसका वह कर्म जागृत होने से वह मरता है । इसमें हिंसा करनेवाले का क्या दोष ? उस कर्म के अभाव में मरता है तो फिर अन्य जीव भी मरेंगे। यह बात व्यर्थ है ।

हिंस्यकर्मविपाके यद्दुष्टाऽऽशयनिमित्तता ।
हिंसकत्वं न तेनेदं वैद्यस्य स्याद्रिपोरिव ।।२८।।

मरनेवाले के पापकर्म के उदय में मारनेवाले का दृष्ट आशय निमित्त बनता है । इसलिए वह हिंसक कहा जाता है । जैसे दुश्मन के समान वैद्य हिंसक नहीं होता है ।

इत्थं सदुपदेशादेस्तन्निवृत्तिरपि स्फुटा ।
सोपक्रमस्य पापस्य नाशात्स्वाशयवृद्धितः ।।२९।।

इस प्रकार सदुपदेश के द्वारा शुभआशय की वृद्धि से उसके सोपक्रम रूप पापकर्म के नाश से हिंसा की निवृत्ति भी स्पष्ट ही होती है ।

तथारुच्या प्रवृत्त्या चव्यज्यते कर्म तादृशम् ।
संशयं जानता ज्ञातः संसार इति हि श्रुतिः ।।३०।।

उस प्रकार ही रुचि और प्रवृत्ति से सोपक्रम कर्म व्यक्त होता है, क्योंकि जो संशय को जानता है वह संसार को जानता है इस प्रकार आचारांग सूत्र में कहा गया है ।

अपवर्गतरोर्बीजं मुख्याऽहिंसेयमुच्यते ।
सत्यादीनि व्रतान्यत्र जायन्ते पल्लवा नवाः ।।३१।।

सदुपदेश से उत्पन्न मुख्य अहिंसा मोक्षवृक्ष का बीज है । उसमें से सत्य आदि व्रत रूप नये पल्लव फुटते हैं ।

विषयो धर्मवादस्य निरस्य मतिकर्दमम् ।
संशोध्यः स्वाशयादित्थं परमानन्दमिच्छता ।।३२।।

बुद्धि के कादव को दूर करके परमानंद के इच्छित साधक को शुभ आशय से इस प्रकार धर्मवाद का विषय खोज लेना चाहिए ।

कथाद्वात्रिंशिका - ०९

अर्थ-कालकथा धर्मकथा मिश्रकथा तथा ।
कथा चतुर्विधा तत्र, प्रथमा यत्र वर्ण्यते ।।१।।

अर्थ कथा, काम कथा, धर्म कथा और मिश्र कथा। इस प्रकार चार प्रकार की कथा होती है । प्रथम अर्थ कथा में जो वर्णन किया गया है वह आगे की गाथा में कहते हैं ।

विद्या शिल्पमुपायश्चानिर्वेदश्चापि सञ्चयः ।
दक्षत्वं सामभेदश्च दण्डो दानं च यत्नतः ।।२।।

विद्या, शिल्प, उपाय, अर्थवेद, संयम, दक्षता, सामनीति, भेदनीति, दंडनीति तथा प्रयत्नपूर्वक दान । इन सबका वर्णन अर्थकथा में आता हैं ।

रूपं वयश्च वेषश्च दाक्षिण्यं चापि शिक्षितम् ।
दृष्टं श्रुतं चानुभूतं द्वितीयायां च संस्तवः ।।३।।

रूप, अवस्था, वेष, दक्षता, उस प्रकार का शिक्षण, दृष्ट-श्रुत-अनुभूत विषय तथा परिचय इनका वर्णन दूसरी काम-कथा में आता हैं ।

तृतीयाऽऽक्षेपणी चैका तथा विक्षेपणी परा ।
अन्या संवेजनी निर्वेजनी चेति चतुर्विधा ।।४।।

तीसरी धर्म कथा चार प्रकार की है । (१) आक्षेपणी, (२) विक्षेपणी, (३) संवेजनी तथा (४) निर्वेदनी ।

आचाराद् व्यवहाराच्च प्रज्ञप्तेर्दृष्टिवादतः ।
आद्या चतुर्विधा श्रोतुश्चित्ताऽऽक्षेपस्य कारणम् ।।५।।

आक्षेपणी धर्म कथा चार प्रकार की है- (१) आचार, (२) व्यवहार, (३) प्रज्ञप्ति और (४) दृष्टिवाद । ये चारों कथा श्रोता के चित्त आक्षेप का अथवा आकर्षण का कारण हैं ।

क्रिया दोषव्यपोहश्च सन्दिग्धे साधुबोधनम् ।
श्रोतुः सूक्ष्मोक्तिराचारादयो ग्रन्थान् परे जगुः ।।६।।

चारों आक्षेपनी धर्मकथा के क्रमसे विषय है- (१) क्रिया बताना, (२) दोष दूर करना, (३) शंका का समाधान करना और (४) सूक्ष्म बातों का

स्पष्टीकरण करना । अन्य आचार्यों ने आचार शब्द से आचारांग आदि ग्रन्थ ग्रहण किये हैं ।

एतैः प्रज्ञापितः श्रोता चित्रस्थ इव जायते ।
दिव्यास्त्रवन्न हि क्वापि मोघाः स्युः सुधियां गिरः ॥७॥

इन धर्मकथा द्वारा प्रतिबोधित श्रोता चित्र में स्थित मनुष्य के समान स्थिर एवं शांत हो जाते हैं ।

विद्या क्रिया तपो वीर्यं तथा समितिगुप्तयः ।
आक्षेपणीकल्पवल्लया मकरन्द उदाहृतः ॥८॥

विद्या, क्रिया, तप, पराक्रम उसी प्रकार समिति और गुप्ति ये आक्षेपणी धर्मकथा रूप कल्पवेल के मकरन्द कहे गये हैं ।

स्वपरश्रुतमिथ्यान्यवादोक्त्या सङ्क्रमोत्क्रमम् ।
विक्षेपणी चतुर्धा स्याद्ऋजोर्मार्गाऽऽभिमुख्यहृत् ॥९॥

स्वसमय-परसमय, मिथ्यावाद और सम्यग्वाद को संक्रम-उत्क्रमपूर्वक कहने से विक्षेपणी कथा चार प्रकार की होती है । ये कथा मुग्धजीव की मार्गरूचि को हरनेवाली हैं ।

अतिप्रसिद्धसिद्धान्तशून्या लोकादिगा हि सा ।
ततो दोषदृगाशङ्का स्याद्वा मुग्धस्य तत्त्वधीः ॥१०॥

जिस कारण से विक्षेपणी धर्म-कथा अतिप्रसिद्ध सिद्धान्त से शून्य और लौकिक शास्त्र से युक्त होती है, उस कारण मुग्ध श्रोता को दोषदृष्टि शंका होती है अथवा जैनेतर शास्त्र पर तत्त्व बुद्धि होती हैं ।

क्षिप्त्वा दोषन्तरं दद्यात्स्वश्रुतार्थं परश्रुते ।
व्याक्षेपे चोच्यमानेऽस्मिन्मार्गाप्तौ दूषयेददः ॥११॥

जैन सिद्धान्त को परशास्त्र में रखकर परशास्त्र में दोषान्तर का आरोपण करना अथवा परश्रुत के कहने पर भी श्रोता उस मार्ग प्राप्ति में अभिमुख हो तो परशास्त्र का खंडन करना ।

कटुकौषधपानाभां कारयित्वा रुचिं सता ।
इयं देयान्यथा सिद्धिर्न स्यादिति विदुर्बुधाः ॥१२॥

सद्गुरु को कडुवे औषध के पान के समान इस विक्षेपणी कथा को मार्ग के प्रति श्रोता की रुचि करवा के कहना चाहिए । अन्यथा सिद्धि नहीं हो सकती है । ऐसा पंडितजन कहते हैं ।

मता संवेजनी स्वान्यदेहेहप्रेत्यगोचरा ।
यया संवेज्यते श्रोता विपाकविरसत्वतः ।।१३।।

विरस विपाक बताने से श्रोता संवेग प्राप्त करता है । वह संवेजनी धर्मकथा मानी गई है । वह स्वशरीर-परशरीर तथा इहलोक-परलोक संबंधी चार प्रकार की होती हैं ।

वैक्रियद्ध्र्यादयो ज्ञानतपश्चरणसम्पदः ।
शुभाऽशुभोदयध्वंसफलमस्या रसः स्मृतः ।।१४।।

वैक्रिय ऋद्धि आदि, ज्ञान-तप-चारित्र की संपत्ति, शुभ-अशुभ कर्म के उदय का नाश का फल ये सब संवेजनी कथा का रस कहे गये हैं ।

चतुर्भंगीं समाश्रित्य प्रेत्येहफलसंश्रयाम् ।
पापकर्मविपाकं या ब्रूते निर्वेजनी तु सा ।।१५।।

पाप कर्म के विपाक को कहती है वह कथा निर्वेजनी कथा कही जाती है । इसलोक और परलोक के फल पर आधारित चतुर्भंगी के आश्रय से उसके चार भेद हैं ।

स्तोकस्याऽपि प्रमादस्य परिणामोऽतिदारुण : ।
वर्ण्यमानः प्रबन्धेन निर्वेजन्या रसः स्मृतः ।।१६।।

थोड़े से प्रमाद का फल भी अति भयंकर होता है, इस प्रकार का वर्णन करते हुए निर्वेजनी कथा का रस कहा गया हैं ।

आदावाक्षेपणीं दद्याच्छिष्यस्य धनसन्निभाम् ।
विक्षेपणीं गृहीतेऽर्थे वृद्ध्युपायमिवादिशेत् ।।१७।।

प्रारंभ में धन तुल्य आक्षेपणी कथा शिष्य को कहनी चाहिए तत्पश्चाद् वस्तु-स्वरूप समझने पर ब्याज के उपाय के समान विक्षेपणी कथा कहनी चाहिए।

आक्षेपण्या किलाऽऽक्षिप्ता जीवाः सम्यक्त्वभागिनः ।
विक्षेपण्यास्तु भजना मिथ्यात्वं वातिदारुणम् ।।१८।।

आक्षेपणी कथा के द्वारा आकर्षित जीव निश्चित रूप से सम्यगदर्शन के भागी होते हैं । विक्षेपणी कथा से तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में विकल्प है । कभी-कभी श्रोता भयंकर मिथ्यात्त्व को भी पा जाता हैं ।

आद्या यथा शुभं भावं सूते नान्या कथा तथा ।
यादृग्गुणः स्यात्पीयूषात्तादृशो न विषादपि ।।१९।।

आक्षेपणी धर्म कथा जैसा शुभ-भाव प्रगट करती है उस प्रकार का शुभ-भाव अन्य विक्षेपणी कथा प्रगट नहीं कर सकती है । निश्चित ही अमृत से जिस प्रकार का लाभ होता है वैसा लाभ विष से कभी भी नहीं हो सकता हैं ।

धर्मार्थकामाः कथ्यन्ते सूत्रे काव्ये च यत्र सा ।
मिश्राख्या विकथा तु स्याद् भक्त-स्त्री-देश-राङ्गता ।।२०।।

सुत्र और काव्य में धर्म, अर्थ और काम विषय कहे जाते है वह मिश्र नाम की कथा कही जाती है । भोजन-स्त्री-देश-राज संबंधी बात विकथा में आती हैं ।

प्रज्ञापकं समाश्रित्य कथा एता अपि क्रमात् ।
अकथा विकथा वा स्युः कथा वा भावभेदतः ।।२१।।

प्रज्ञापक के आश्रय से ये कथाएँ भी क्रम से अकथा विकथा अथवा कथा बनती है । क्योंकि प्रज्ञापक से भावों में भेद होता है ।

मिथ्यात्वं वेदयन् ब्रते लिङ्गस्थो वा गृहस्थितः ।
यत्साऽकथाशयोद्भूतेः श्रोतुर्वस्त्रनुसारतः ।।२२।।

मिथ्यात्व का अनुभव करता हुआ जो द्रव्यसाधु अथवा गृहस्थ बोलता है वह अकथा कही जाती है । क्योंकि वक्ता के आशय के अनुसार श्रोता को परिणाम उत्पन्न होते हैं ।

ज्ञानक्रियातपोयुक्ताः सद्भावं कथयन्ति यत् ।
जगज्जीवहितं सेयं कथ धीरैरुदाहृता ।।२३।।

ज्ञान क्रिया और तप से युक्त ऐसे धर्मदेशक जगत के जीवों के हितकारी ऐसी तात्त्विक बात करते हैं । धीर पुरुषों के द्वारा वह कथा कही गई है।

यः संयतः प्रमत्तस्तु ब्रुते सा विकथा मता ।
कर्तृश्रोत्राशये तु स्याद् भजना भेदमञ्चति ।।२४।।

प्रमादी साधु जो कहते है वह विकथा कही जाती है। किन्तु वक्ता और श्रोता का आशय बदल जाने से उसमें विकल्प जानना चाहिए ।

सन्धुक्षयन्ति मदनं शृङ्गारोक्तैरुदर्चिषम् ।
कथनीया कथा नैव साधुना सिद्धिमिच्छता ।।२५।।

शृंगारिक उपमाओं के द्वारा कामवासना रूप अग्नि को प्रज्वलित करनेवाली ऐसी कथा मोक्षाभिलाषी साधु को कभी नहीं करना चाहिए ।

तपोनियमसारा तु कथनीया विपश्चिता ।
संवेदं वापि निर्वेदं यां श्रुत्वा मनुजो व्रजेत् ।।२६।।

तप और नियम से समृद्ध ऐसी कथा पंडित को करनी चाहिए कि जिसको सुनकर मनुष्य संवेग अथवा निर्वेद को प्राप्त करते हैं ।

महार्थापि कथाऽकथ्या परिक्लेशेन धीमता ।
अर्थं हन्ति प्रपञ्चो हि पीठक्ष्मामिव पादपः ।।२७।।

मोटे अर्थवाली कथा को भी बुद्धिशाली वक्ता को अत्यन्त विस्तृत और क्लिष्ट भाषा में नहीं करनी चाहिए । क्योंकि जैसे महाकाय वृक्ष अपनी ही पीठ भूमि का स्वयं के विस्तार से हनन करता है; उसी प्रकार कथा संबंधि अतिविस्तार अर्थ को नष्ट कर देता हैं ।

प्रपञ्चितज्ञशिष्यस्याऽनुरोधे सोऽप्यदोषकृत् ।
सूत्राऽर्थादिक्रमेणातोऽनुयोगस्त्रिविधः स्मृतः ।।२८।।

गहन कथा को समझने की योग्यतावाले शिष्य के अनुरोध पर अतिविस्तार से कथा कहने में कोई दोष नहीं है । अतः सूत्र-अर्थ आदि तीन प्रकार के अनुयोग शास्त्र में कहे गये हैं ।

विध्युद्यमभयोत्सर्गाऽपवादोभयवर्णकैः ।
कथयन्न पटुः सूत्रमपरिच्छिद्य केवलम् ।।२९।।

आगम से विषय का निश्चय किये बिना केवल विधि उद्यम, भय उत्सर्ग, अपवाद, तदुभय का वर्णन करनेवाले सूत्रों से धर्म देशना करनेवाले कुशल नहीं कहे जाते हैं ।

एवं ह्येकान्तबुद्धिः स्यात्सा च सम्यक्त्वघातिनी ।
विभज्यवादिनो युक्ता कथायामधिकारिता ।।३०।।

इस प्रकार कहने से एकान्त बुद्धि होती है और वह एकान्त बुद्धि समकित का नाश करनेवाली है । अतः विषय का विभाग करनेवाले उपदेशक को कथा उपदेश का अधिकारी माना गया हैं ।

विधिना कथयन् धर्मे हीनोऽपि श्रुतदीपनात् ।
वरं न तु क्रियास्थोऽपि मूढो धर्माऽध्वतस्करः ।।३१।।

आचार में हीन होने पर भी विधिपूर्वक धर्म का कथन करनेवाले उपदेशक श्रेष्ठ होते हैं । क्योंकि श्रुत की प्रभावना होती है । किंतु क्रिया मार्ग में स्थित होने पर भी जो मूढ होते हैं और धर्म मार्ग के चोर होते है वह ठीक नहीं है ।

इत्थं व्युत्पत्तिमात्रायां कथयन् पण्डितः कथाम् ।
स्वसामर्थ्याऽनुसारेण परमानन्दमश्नुते ।।३२।।

इस प्रकार स्वयं को जितना ज्ञान है उस प्रमाण में कथा को अपनी शक्ति के अनुसार कहते हुए पंडित साधु परमानन्द को प्राप्त करते हैं ।

योगलक्षणद्वात्रिंशिका - १०

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते ।
लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतुव्यापारताऽस्य तु ।।१।।

यहाँ मोक्ष के साथ योग (संबंध) करवाने को ही योग कहा है । उस कारण से योग का लक्षण है मोक्ष के हेतुभूत प्रवृत्ति ।

मूख्यत्वं चान्तरङ्गत्वात् फलाऽऽक्षेपाच्च दर्शितम् ।
चरमे पुद्गलावर्ते यत एतस्य सम्भवः ।।२।।

योग मोक्ष का मुख्य हेतु होने के कारण ऐसा कहा गया है कि, वह अंतरंग कारण है और फल निष्पति में विलंब नहीं करता है । इस कारण से यह चरम पुद्गलावर्त में ही संभव है ।

न सन्मार्गाऽऽभिमुख्यं स्यादावर्तेषु परेषु तु ।
मिथ्यात्वच्छन्नबुद्धीनां दिङ्मूढानामिवाऽङ्गिनाम् ।।३।।

दिगभ्रमित जीव जैसे सही मार्ग के सन्मुख नहीं होते हैं । वैसे ही दूसरे आवर्तों (अचरमवर्न) में मिथ्यात्व से व्याप्त बुद्धिवाले जीव मोक्ष के सन्मुख नहीं होते हैं ।

तदा भवाभिनन्दी स्यात्सञ्ज्ञाविष्कम्भणं विना ।
धर्मकृत् कश्चिदेवाङ्गी लोकपङ्क्तिकृताऽऽदरः ।।४।।

- अचरमावर्त काल में जीव भवाभिनंदी होते हैं । वहाँ कुछ ही जीव धर्म करते हैं । वे भी संज्ञाओं को रोके बिना ही करते हैं । प्रायः करके जीव संज्ञाओं का ही आदर करनेवाले होते हैं ।

क्षुद्रोलोभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसङ्गतः ।।५।।

भवाभिनंदी के आठ लक्षण होते है- (१) क्षुद्र, (२) लोभरतिवाले, (३) दीन, (४) कपटी, (५) भयभीत, (६) शठ, (७) अज्ञानी, एवं (८) निष्फल आरंभ को करनेवाले होते हैं ।

लोकाऽऽराधनहेतोर्या मलिनेनान्तरात्मना ।
क्रियते सत्क्रिया सा च लोकपंक्तिरुदाहृता ।।६।।

लोगो को प्रसन्न करने के लिए मलिन चित्त से जो सत्क्रिया की जाती है वह लोकपंक्ति कही गई है ।

महत्यल्पत्वबोधेन विपरीतफलाऽऽवहा ।
भवाभिनन्दिनो लोकपङ्क्त्या धर्मक्रिया मता ।।७।।

भवाभिनन्दी जीव की लोकपंक्ति से होनेवाली धर्मक्रिया महानधर्म में तुच्छत्व के बोध से विपरीत फल को लानेवाली हैं ।

धर्मार्थं सा शुभायाऽपि धर्मस्तु न तदर्थिनः ।
क्लेशोऽपीष्टो धनार्थं हि क्लेशार्थं जातु नो धनम् ।।८।।

धर्म के लिए लोकपंक्ति (दानादि) का अनुशरण शुभ अनुबन्ध के लिए है । किंतु लोकपंक्ति के लिए धर्म करना अशुभ बन्ध के लिए है । जैसे धन के लिए दुःख इष्ट है किंतु दुःख-क्लेश के लिए धन कभी भी इष्ट नहीं है ।

अनाभोगवतः साऽपि धर्माऽहानिकृतो वरम् ।
शुभा तत्त्वेन नैकाऽपि प्रणिधानाद्यभावतः ।।९।।

अनाभोगवाले जीव की धर्म की हानी न हो तो लोक रंजन के लिए की जानेवाली धर्मक्रिया भी ठीक है । किंतु परमार्थ से तो प्रणिधान आदि न हो तो एक भी धर्म साधना ठीक नहीं है ।

प्रणिधानं प्रवृत्तिश्च तथा विघ्नजयस्त्रिधा ।
सिद्धिश्च विनियोगश्च एते कर्मशुभाऽऽशयाः ।।१०।।

प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि और विनियोग ये पांच क्रिया संबंधी शुभाशय जानना चाहिए ।

प्रणिधानं क्रियानिष्ठमधोवृत्तिकृपाऽनुगम् ।
परोपकारसारं च चित्तं पापविवर्जितम् ।।११।।

क्रियानिष्ठ (क्रिया से अविचलित स्वभाववाले) जीव का, निम्नवृत्तिवाले जीव पर कृपायुक्त, परोपकारप्रधान और पापवर्जित ऐसा चित्त यहाँ प्रणिधान कहा गया है ।

प्रवृत्तिः प्रकृतस्थाने यत्नाऽतिशयसम्भवा ।
अन्याऽभिलाषरहिता चेतः परिणतिः स्थिरा ।।१२।।

धर्मस्थान में विशेष प्रकार के प्रयत्न से तथा अन्य अभिलाषा से शून्य स्थिर चित्त परिणति को "प्रवृत्ति" कहते हैं ।

ब्राह्याऽन्तर्व्याधिमिथ्यात्वजयव्यङ्ग्याशयात्मकः ।
कण्टकः-ज्वर-मोहानां जयैर्विघ्नजयः समः ।।१३।।

बाह्य व्याधि, आंतरिक व्याधि और मिथ्यात्त्व इन तीन के उपर प्राप्त विजय का सूचक ऐसा आशय विघ्नजय कहा जाता है वह कंटक-ज्वर-मोह के जय के समान है ।

सिद्धिस्तात्त्विकधर्माप्तिः साक्षादनुभवात्मिका ।
कृपोपकारविनयान्विता हीनादिषु क्रमात् ।।१४।।

साक्षात् अनुभवात्मक ऐसी तात्त्विक धर्मप्राप्ति यह सिद्धि कही जाती है, हीन के प्रति कृपाभाव, मध्यम के प्रति सहायक भाव, उत्तम व्यक्ति के प्रति विनयभाव इन तीन गुणों से वह "सिद्धि" युक्त होती है ।

अन्यस्य योजनं धर्मे विनियोगस्तदुत्तरम् ।
कार्यमन्वयसम्पत्त्या तदवन्ध्य फलं मतम् ।।१५।।

दूसरे को धर्म में जोड़ना यह "विनियोग" कहा जाता है । वह सिद्धि के पश्चाद् होता है । विच्छेद् रहित सिद्धि होने से विनियोग अवन्ध्य फलवाला माना गया है ।

एतैराशययोगैस्तु विना धर्माय न क्रिया ।
प्रत्युत प्रत्यपायाय लोभ-क्रोध-क्रिया यथा ।।१६।।

प्रणिधान आदि आशय रूप योग के बिना क्रिया कभी भी धर्म के लिए नहीं होती है । इसके विपरीत लोभक्रिया अथवा क्रोधक्रिया के समान हानी के लिए होती है ।

तस्मादचरमावर्तेष्वयोगो योगवर्त्मनः ।
योग्यत्वेऽपि तृणादीनां घृतत्वादेस्तदा यथा ।।१७।।

अचरमावर्त काल में स्वरूप योग्यता होने पर भी योग मार्ग संभव नहीं

है । जैसे की घास आदि में घी आदि रूप परिणमन की योग्यता होने पर भी घास दशा में वह संभव नहीं है ।

नवनीतादिकल्पस्तच्चरमावर्त्त इष्यते ।
अत्रैव विमलो भावो गोपेन्द्रोऽपि यदभ्यधात् ।।१८।।

मक्खन आदि के समान चरमावर्त काल माना गया है । चरमावर्त काल में ही निर्मल आशय प्रगट होता है । जैसा गोपेन्द्र ने भी कहा है कि, (क्या कहा है ? यह अगले श्लोक में बतातें हैं ।)

अनिवृत्ताऽधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि ।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवर्त्तते ।।१९।।

गोपेन्द्र नामक आचार्य इस प्रकार कहते हैं- प्रकृति का अधिकार सर्वथा निवृत्त न हो तो निश्चित ही पुरुष को तत्त्वमार्ग की जिज्ञासा ही प्रगट नहीं होती है ।

साधिकारप्रकृतिमत्यावर्ते हि नियोगतः ।
पश्येच्छेव न जिज्ञासा क्षेत्ररोगोदये भवेत् ।।२०।।

जिस प्रकार क्षेत्ररोग के उत्पन्न होने पर पथ्य की इच्छा ही नहीं होती है । वैसे ही अधिकारयुक्त कर्म प्रकृतिवाले जीव को अचरमावर्त काल में निश्चित से योग की जिज्ञासा नहीं होती है ।

पुरुषाऽभिभवः कश्चित्तस्यामपि हि हीयते ।
युक्तं तेनैतदधिकमुपरिष्टाद् भणिष्यते ।।२१।।

कदाच तत्त्वजिज्ञास होने पर भी पुरुष का अभिभव करने का अधिकार कुछ कम होने लगता है । इसलिए गोपेन्द्र की बात युक्ति संगत है । इस विषय में अधिक वक्तव्य आगे कहा गया है।

भावस्य मुख्यहेतुत्वं तेन मोक्षे व्यवस्थितम् ।
तस्यैव चरमावर्ते क्रियाया अपि योगतः ।।२२।।

उपरोक्त कारण से भाव, मोक्ष के मुख्य हेतु हैं ऐसा निश्चय होता है। चरमावर्त में शुभ भाव के योग से क्रिया भी योगस्वरूप बनती है ।

रसाऽनुवेधात्ताम्रस्य हेमत्वं जायते यथा ।
क्रियाया अपि सम्यक्त्वं तथा भावाऽनुवेधतः ।।२३।।

सिद्धरस के सम्पर्क से जिस प्रकार तांबा सोना हो जाता है । उसी प्रकार भावना के योग से क्रिया भी सम्यक् बन जाती है ।

भावसात्म्येऽत एवास्या भङ्गेऽपि व्यक्तमन्वयः ।
सुवर्णघटतुल्यां तां ब्रुवते सौगता अपि ।।२४।।

इस कारण से भाव की शक्ति से क्रिया के खंडित होने पर भी भाव स्पष्ट रूप से रहते हैं । इसलिए भावशुद्ध क्रिया को बौद्ध भी स्वर्णघट के समान कहते हैं ।

शिरोदकसमो भावः क्रिया च खननोपमा ।
भावपूर्वादनुष्ठानाद् भाववृद्धिरतो ध्रुवा ।।२५।।

भाव पानी की आव के समान है तो क्रिया भूमि को खोदने समान है। इसलिए भावयुक्त क्रिया से निश्चित ही भाव की वृद्धि होती है ।

मण्डूकचूर्णसदृशः क्लेशध्वंसः क्रियाकृतः ।
तद्भस्मसदृशस्तु स्याद् भावपूर्वक्रियाकृतः ।।२६।।

मात्र धर्मक्रिया से किया गया क्लेश नाश मेंढक के चूर्ण के समान है। जबकि भावयुक्त धर्मकिया से किया गया पाप क्षय मेंढक की भस्म के समान है ।

विचित्रभावद्वारा तत् क्रिया हेतु शिवं प्रति ।
अस्या व्यंजकताप्येषा परा ज्ञाननयोचिता ।।२७।।

विविध प्रकार के भावों के द्वारा की गई क्रिया मोक्ष की हेतु बनती है। क्रिया भाव की श्रेष्ठ व्यंजक है । यह बात ज्ञान नय की अपेक्षा से उचित है ।

व्यापारश्चिद्विवर्तत्वाद्वीर्योल्लासाच्च स स्मृतः ।
विविच्यमाना भिद्यन्ते परिणामा हि वस्तुनः ।।२८।।

वह योग ज्ञान परिणाम की अपेक्षा से और वीर्योल्लास की अपेक्षा से आत्मव्यापार स्वरूप माना गया है । क्योंकि भेद नय को ग्रहण करने पर परिणाम

तो वस्तु से भिन्न है ।

जीवस्थानानि सर्वाणि गुणस्थानानि मार्गणाः ।
परिणामा विवर्तन्ते जीवस्तु न कदाचन ।।२९।।

सभी जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा स्वरूप परिणाम बदलते हैं । किंतु जीव कभी बदलता नहीं है ।

उपाधिः कर्मणैव स्यादाचारादौ श्रुतं ह्यदः ।
विभावाऽनित्यभावेऽपि ततो नित्यः स्वभाववान् ।।३०।।

उपाधि कर्म से ही होती है । ऐसा आचारांग आदि में सुना गया है । इसलिए विभाव परिणाम अनित्य होने पर भी आत्मा नित्य स्वभाववाला होता गया है।

द्रव्यादेः स्यादभेदेऽपि शुद्धभेदनयादिना ।
इत्थं व्युत्पादनं युक्तं नयसारा हि देशना ।।३१।।

द्रव्य के परिणाम से कंथचित अभेद होने पर भी शुद्ध नय आदि के द्वारा आत्मा और परिणाम के बीच भेद का व्युत्पादन करना युक्त है । क्योंकि देशना नय प्रधान होती है ।

योगलक्षणमित्येवं जानानो जिनशासने ।
परोक्तानि परीक्षेत परमानन्दबद्धधीः ।।३२।।

इस प्रकार जिनशासन में बताये गये योगलक्षण को जानते हुए जिसकी बुद्धि सतत परमानंदमय मोक्ष में जुड़ी हुई है, ऐसे स्याद्वादी को अन्यदर्शन में बताई गई योग लक्षण की परीक्षा करनी चाहिए ।

पातञ्जलयोगलक्षण द्वात्रिंशिका-११

चित्तवृत्तिनिरोधन्तु योगमाह पतज्जलिः ।
दृष्टुः स्वरूपावस्थानं यत्र स्यादविकारिणि ।।१।।

पतंजलि ने चित्तवृत्ति निरोध को योग का लक्षण कहा हैं । अविकारी होते हुए जिसका दृष्टा-पुरुष के स्वरूप में अवस्थान होता है वह चित्त हैं ।

आपन्ने विषयाकारं यत्र चेन्द्रियवृत्तितः ।
पुमान् भाति तथा चन्द्रश्चलन्नीरे चलन् यथा ।।२।।

इन्द्रियवृत्ति से विषयाकार को प्राप्त पुरुष भी वैसा ही प्रतित होता है जैसा चंचलित पानी में चंद्र चंचलित दिखाई देता है । (उस पदार्थ को ही चित्त कहते हैं ।)

तच्चित्तं वृत्तयस्तस्य पञ्चतय्यः प्रकीर्तिता ।
भानं भ्रमो विकल्पश्च निद्रा च स्मृतिरेव च ।।३।।

वह चित्त है; उसकी वृत्ति पांच प्रकार की कही गई हैं । (१) मान, (२) भ्रम, (३) विकल्प, (४) निद्रा और (५) स्मृति ।

मानं ज्ञानं यथार्थं स्यादतस्मिंस्तन्मतिर्भ्रमः ।
पुंसश्चैतन्यमित्यादौ विकल्पोऽवस्तुशाब्दधीः ।।४।।

मान अर्थात् यथार्थ ज्ञान । उसी प्रकार जो पदार्थ न हो उसमें उस प्रकार की-बुद्धि होना वह भ्रम है । पुरुष चैतन्य आदि में अवस्तु विषयक शब्दजन्य बुद्धि को विकल्प कहा जाता हैं ।

निद्रा च वासनाऽभावप्रत्ययाऽऽलम्बना स्मृता ।
सुखादिविषया वृत्तिर्जागरे स्मृतिदर्शनात् ।।५।।

अभावप्रत्यय के आलंबन वाली वासना निद्रा कहलाती है । यह निद्रा वृत्ति सुख विषयक होती है । क्योंकि जागने के पश्चात् उसकी स्मृति होती है।

तथानुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः स्मृता ।
आसां निरोधः शक्त्यान्तः स्थितिर्हेतौ बहिर्हतिः ।।६।।

अनुभूत विषय का बुद्धि में उपस्थित होना वह स्मृति कही जाती है । इन पांचो वृत्तियों का स्वयं के कारण में शक्ति रूप रहना और बाहर में न

जाना यह वृत्ति निरोध कहलाता है ।

स चाभ्यासाच्च वैराग्यात्तत्राऽभ्यासः स्थितौ श्रमः ।
दृढभूमिः स च चिरं नैरन्तर्याऽऽदराऽऽश्रितः ।।७।।

वृत्ति निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है, अतः अभ्यास अर्थात् वृत्ति रहित चित्त की स्थिति में श्रम करना है । लम्बे समय तक निरंन्तर आदर सहित प्रयत्न करने से वह अभ्यास दृढभूमि अर्थात् स्थिर होता है ।

या वशीकारसंज्ञा स्याद् दृष्टाऽऽनुश्रविकाऽर्थयोः ।
वितृष्णस्याऽपरं तत् स्याद्वैराग्यमनधीनता ।।८।।

वैराग्य अर्थात् दूसरों के आधीन नहीं रहना । दृष्ट और आनुश्राविक विषय में तृष्णा रहित पुरुष को वशीकार नाम का अपर वैराग्य होता है।

तत्परं जातपुंख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यसंज्ञकम् ।
बहिर्वैमुख्यमुत्पाद्य वैराग्यमुपयुज्यते ।।९।।

जिसको पुरुष और प्रकृति के गुणों के भेद का बोध उत्पन्न होता है । उस पुरुष को प्रकृति के गुणों पर से आसक्ति चली जाने से गुणवैतृष्ण नाम पर वैराग्य उत्पन्न होता है । बहिर्मुखता का त्याग उत्पन्न करने में यह वैराग्य उपयोगी बनता है ।

निरोधे पुनरभ्यासो जनयन् स्थिरतां दृढाम् ।
परमानन्दनिष्यन्दशान्तस्रोतः प्रदर्शनात् ।।१०।।

पर वैराग्य की उपयोगिता बताते हुए ग्रन्थकार कहते है कि, वृत्तिनिरोध विषयक अभ्यास अत्यंत स्थिरता को उत्पन्न करते हुए परमानंद के झरणा स्वरूप शांतप्रवाह के प्रदर्शन करवाने से उपकारी होता है ।

न चैतद्युज्यते किञ्चिदात्मन्यपरिणामिनि ।
कूटस्थ स्यादसंसारोऽमोक्षो वा तत्र हि ध्रुवम् ।।११।।

यदि आत्मा को सर्वथा अपरिणामी माने तो उपरोक्त योग लक्षण जरा भी संगत नहीं होता है । क्योंकि आत्मा कुटस्थ नित्य हो तो निश्चित रूप से संसार ही असंभव है और उसी प्रकार मोक्ष भी असंभव है ।

प्रकृतेरपि चैकत्वे मुक्तिः सर्वस्य नैव वा ।
जडायाश्च पुमर्थस्य कर्त्तव्यत्वमयुक्तिमत् ।।१२।।

यदि प्रकृति को भी एक माने तो एक आत्मा की मुक्ति होने पर सभी आत्माओं की मुक्ति हो अथवा एक की भी मुक्ति न हो सके । उसी प्रकार जड़ प्रकृति में पुरुषार्थ-कर्तव्यत्व मानना भी युक्ति संगत नहीं है ।

ननु चित्तस्य वृत्तीनां सदा ज्ञाननिबन्धनात् ।
चिच्छायासंक्रमाद्धेतोरात्मनोऽपरिणामिता ।।१३।।

चित्त की वृत्तिओं में ज्ञान का कारण बने ऐसा चित्छायासंक्रमरूप ज्ञापक हेतु सर्वदा होने से आत्मा का अपरिणामीपना सिद्ध होता है ।

स्वाभासं खलु नो चित्तं दृश्यत्वेन घटादिवत् ।
तदन्यदृश्यतायां चानवस्था-स्मृतिसङ्करौ ।।१४।।

चित्त दृश्य होने से घट आदि के समान स्वप्रकाश्य नहीं है । यदि मूल चित्त को अन्य दृश्यचित्त द्वारा ज्ञेय माने तो अनवस्था और स्मृतिसांकर्य दोष आता है ।

अङ्गाऽङ्गिभावचाराभ्यां चितिरप्रतिसङ्क्रमा ।
दृष्टृ-दृश्योपरक्तं तच्चित्तं सर्वाऽर्थगोचरम् ।।१५।।

चित्तशक्ति अंग-अंगी भाव पाने के द्वारा अप्रतिसंक्रम-वाली है। इसलिए दृष्टा और दृश्य से तदाकार हुआ चित्त सर्वार्थ विषयक है ।

नित्योदिता त्वभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिर्द्विविधा हि नः ।
आद्या पुमान् द्वितीया तु सत्त्वे तत्सन्निधानतः ।।१६।।

हमारे मत से दो प्रकार की चित्तशक्ति है- (१) नित्य-उदित, (२) अभिव्यंग्य चित्शक्ति । नित्य उदित चित्शक्ति अर्थात् पुरुष और उसके सानिध्य से सत्त्वप्रधान चित्त में दूसरी अभिव्यंग्य चित्शक्ति आती है ।

सत्त्वे पुंस्थितचिच्छायासमाऽन्या तदुपस्थितिः ।
प्रतिबिम्बात्मको भोगः पुंसि भेदाग्रहादयम् ।।१७।।

सत्त्व में पुरुषनिष्ठ चित्छाया है उसके समान दूसरी स्वकीय-छाया की उपस्थिति वह प्रतिबिंब स्वरूप भोग है । पुरुष में भेदज्ञान न होने से यह भोग होता है ।

इत्थं प्रत्यात्मनियतं बुद्धितत्त्वं हि शक्तिमत् ।
निर्वाहे लोकयात्रायास्ततः क्वाऽतिप्रसञ्जनम् ।।१८।।

इस प्रकार प्रत्येक आत्मा में नियत ऐसा बुद्धितत्त्व ही लोकव्यवहार का निर्वाह करने में समर्थ है । इसलिए अतिप्रसंग का कहां अवकाश है ।

कर्त्तव्यत्वं पुमर्थस्याऽऽनुलोम्य-प्रतिलोम्यतः ।
प्रकृतौ परिणामानां शक्ती स्वाभाविके उभे ।।१९।।

परिणामों की अनुलोम-प्रतिलोम से जो दो स्वाभाविक शक्ति है वे ही प्रकृति में पुरुषार्थकर्तव्यता है ।

न चैवं मोक्षशास्त्रस्य वैयर्थ्यं प्रकृतेर्यतः ।
ततो दुःखनिवृत्त्यर्थं कर्तृत्वस्मयवर्जनम् ।।२०।।

इस प्रकार प्रकृति से मोक्ष होने पर भी मोक्ष शास्त्र व्यर्थ नहीं बनते । क्योंकि मोक्ष उपदेशक शास्त्र से दुःखनिवृत्ति के लिए प्रकृति के कर्तृत्व का अभिमान छुटता है ।

व्यक्तं कैवल्यपादेऽदः सर्वं साध्विति चेन्न तत् ।
इत्थं हि प्रकृतेर्मोक्षो न पुंसस्तददो वृथा ।।२१।।

ये सभी बाते कैवल्य पाद में अच्छी तरह बताई गई है । इस प्रकार (पूर्वोक्त श्लोक में) पूर्तपक्ष ने जो बताया है वह ठीक नहीं है । क्योंकि इस प्रकार मानने से तो प्रकृति का मोक्ष होगा, पुरुष का नहीं ।

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशयः ।।२२।।

पच्चीश तत्त्व को जाननेवाला, ब्रह्मचर्याश्रम-गृहस्थाश्रम आदि कोई भी आश्रम में रत हो वह जटी, मुण्डी अथवा शिखाधारी हो तो भी मुक्त होता है इसमें कोई संशय नहीं है ।

बुद्ध्या सर्वोपपत्तौ च मानमात्मनि मृग्यते ।
संहत्यकारिता मानं पारार्थ्यनियता च न ।।२३।।

बंधु यदि बुद्धि के द्वारा ही सर्व व्यवहार संगत हो जाता तो आत्मा को स्वीकारने का कोई प्रमाण खोजने की आवश्यकता होती । पारार्थ्यव्याप्य संहत्यकारिता भी आत्मसाधक प्रमाण नहीं हो सकेगा ।

सत्त्वादीनामपि स्वाङ्गिन्युपकारोपपत्तितः ।
बुद्धिर्नामैव पुंसस्तत् स्याच्च तत्त्वान्तरव्ययः ।।२४।।

सत्त्व आदि गुण स्वयं के आश्रय पर भी उपकार करने से उपरोक्त परार्थव्याप्ति ठीक नहीं । इस प्रकार तो बुद्धि ही पुरुष का दूसरा नाम हो जाएगी और अन्य तत्त्वों का उच्छेद हो जाएगा ।

व्यापारभेदादेकस्य वायोः पञ्चविधत्ववत् ।
अहङ्कारादिसंज्ञानोपपत्तिसुकरत्वतः ।।२५।।

जिस प्रकार एक ही वायु के व्यापार की भिन्नता के पांच प्रकार होते हैं । उसी प्रकार कार्य की भिन्नता से एक ही बुद्धि में अहंकार आदि विविध शब्द के प्रयोग की संगति भी सरलता से होती है ।

पुंसश्च व्यञ्जकत्वेऽपि कूटस्थत्वमयुक्तिमत् ।
अधिष्ठानत्वमेतच्चेत्तदेत्यादि निरर्थकम् ।।२६।।

पुरुष को अभिव्यंजक माने तो भी कुटस्थता अयुक्त होगी तथा अभिव्यंजकता यदि अधिष्ठानत्व रूप माने तो योगसूत्र निरर्थक हो जाऐंगें ।

निमित्तत्वेऽपि कौटस्थ्यमथास्यापरिणामतः ।
स्याद् भेदो धर्मभेदेन तथापि भवमोक्षयोः ।।२७।।

पुरुष निमित्त होने पर भी परिणामी न होने से कुटस्थ अबाधित रहेगा, ऐसा पातंजल विद्वानों के तरफ से कहने में आता है, तो भी धर्म भेद से संसार और मोक्ष अवस्था में आत्मा का भेद होगा ही ।

प्रसङ्गतादवस्थ्यं च बुद्धेर्भेदेऽपि तत्त्वतः ।
प्रकृत्यन्ते लये मुक्तेर्न चेदव्याप्यवृत्तिता ।।२८।।

दःखविलय के अंत में प्रकृति में ही विश्रान्ती होने से तो प्रत्येक आत्मा में बुद्धि भिन्न-भिन्न माने तो भी परमार्थ से एक की मुक्ति में सर्व आत्मा की मुक्ति होने की समस्या तो खड़ी रहेगी । क्योंकि तुम मुक्ति को अव्याप्य वृत्ति नहीं मानते हो ।

प्रद्यानभेदे चैतत्स्यात् कर्म बुद्धिगुणः पुमान् ।
स्याद्ध्रुवश्चाध्रुवश्चेति जयताज्जैनदर्शनम् ।।२९।।

यदि प्रकृति अनेक माने तो वह प्रकृति संसार मोक्ष के निर्वाहक कर्म स्वरूप ही होगी और पुरुष बुद्धि स्वरूप गुणवाला होगा । इस अपेक्षा से नित्य और अनित्य उभय स्वरूप होगा । इस प्रकार जैनशासन जयवंत होगा ।

तथा च कायरोधादावव्यासं प्रोक्तलक्षणम् ।
एकाग्रतावधौ रोधे वाच्ये च प्राचि चेतसि ।।३०।।

उसी प्रकार कायनिरोध आदि में पांतजल का चित्त निरोध योग लक्षण अव्यासि दोष से ग्रस्त बनता है । यदि एकाग्रता और निरोध मात्र साधारण चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है । इस प्रकार कहे तो पूर्व चित्त विक्षिसचित्तावस्था में अव्यासि आएगी ।

योगारम्भोऽथ विक्षिसे व्युत्थानं क्षिस-मूढयोः ।
एकाग्रे च निरुद्धे च समाधिरिति चेन्न तत् ।।३१।।

विक्षिस चित्त में मात्र योग का आरंभ होता है। क्षिस चित्त और मूढ चित्त में व्युत्थान होता है । एकाग्रत चित्त और निरुद्ध चित्त में समाधि होती हैं । इस प्रकार की पातंजल विद्वानों की बात ठीक नहीं ।

योगारम्भेऽपि योगस्य निश्चयेनोपपादनात् ।
मदुक्तं लक्षणं तस्मात्परमानन्दकृत सताम् ।।३२।।

योग के आरंभ में भी निश्चय से योग का समर्थन करने में आता हैं । इसलिए हमारे द्वारा (१०वीं बत्रीसी में) कहा गया योग लक्षण ही सज्जनों को परमानन्द देनेवाला है ।

पूर्वसेवा द्वात्रिंशिका - १२

पूर्वसेवा तु योगस्य गुरुदेवादिपूजनम् ।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः ।।१।।

गुरु पूजन, देवादिपूजन, सदाचार, तप और मुक्ति अद्वेष इन्हें योग की पूर्व सेवा कही गई हैं ।

माता पिता कालाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा ।
वृद्धा धर्मपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः ।।२।।

माता, पिता, कलाचार्य तथा उनके स्वजन, वृद्ध तथा धर्मोपदेशक ये सभी गुरुवर्ग रूप में सज्जनों को मान्य हैं ।

पूजनं चाऽस्य नमनं त्रिसन्ध्यं पर्युपासनम् ।
अवर्णाऽश्रवणं नामश्लाघोत्थानाऽऽसनाऽर्पणे ।।३।।

गुरुपूजन अर्थात् गुरुवर्ग को त्रीसंध्या को नमन करना, पर्युपासना करनी, उनकी निंदा न सुननी, उनके नाम की प्रशंसा करनी, वे आए तो खड़ा होना, आसन देना ।

सर्वदा तदनिष्टेष्टत्यागोपादाननिष्ठता ।
स्वपुभर्थमनाबाध्य साराणां च निवेदनम् ।।४।।

स्वयं के पुरुषार्थ का उल्लंघन किये बिना गुरुवर्ग के अनिष्ट पदार्थों का हमेशा त्यांग करना और उनको इष्ट हो ऐसे पदार्थ-व्यवहार की प्राप्ति के लिए तत्पर रहना तथा श्रेष्ठ कोटि के पदार्थ उनको देना यह गुरु पुजन है ।

तद्वित्तयोजनं तीर्थे तन्मृत्यनुमतेर्भिया ।
तदासनाद्यभोगश्च तद्बिम्बस्थापनाऽर्चने ।।५।।

माता-पिता आदि के मरण की अनुमोदना के भय से उनका धन तीर्थक्षेत्र में उपयोग करना चाहिए । उसी प्रकार उनके आसन आदि भी स्वयं उपयोग न करना और उनकी प्रतिमा भरवाकर पूजना यह गुरुपूजन हैं ।

देवानां पूजनं ज्ञेयं शौच-श्रद्धादिपूर्वकम् ।
पुष्पैर्विलेपनैर्धुपैर्नैवद्यैः शोभनैः स्तवैः ।।६।।

पवित्रता और श्रद्धा आदि पूर्वक सुंदर पुष्प, विलेपन धुप नैवेद्य और

स्तोत्रों द्वारा देव की भक्ति हो वह देव पूजन जानना चाहिए ।

अधिमुक्तिवशान्मान्या अविशेषेण वा सदा ।
अनिर्णीतविशेषाणां सर्वे देवा महात्मनाम् ।।७।।

जिन्होने देव का विशेष स्वरूप जाना नहीं है ऐसे महात्माओं को सभी देव समान रूप से सदैव मान्य होते हैं अथवा स्वयं की ज्वलंत श्रद्धा के अनुसार सभी मान्य होते हैं ।

सर्वान् देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।८।।

जो पूर्वसेवा करनेवाले महापुरुष एक देव का आश्रय नहीं करते हैं सभी देवों को नमस्कार करते हैं । ऐसे जितेन्द्रिय और क्रोधविजयी नरकपतन आदि से बच जाते हैं ।

चारिसञ्जीविनीचारन्यायादेवं फलोदयः ।
मार्गप्रवेशरूपः स्याद्विशेषेणाऽऽदिकर्मणाम् ।।९।।

इस प्रकार चारिसंजीविनी चारण न्याय से मार्ग प्रवेश रूप फलोदय प्राप्त होता है । विशेष रूप से आदिधार्मिक जीवों को यह बात लागु होती है ।

अधिज्ञातविशेषाणां विशेषेऽप्येतदिष्यते ।
स्वस्य वृत्तविशेषेऽपि परेषु द्वेषवर्जनात् ।।१०।।

जिनको देवों की विशेषता ज्ञात हैं । उन जीवों को विशेष देवों के उद्देश्य से की गई पूजन आदि लाभदायी होते हैं । स्वयं का विशेष आचार होने पर तथा अन्य देवों के द्वेष वर्जन से यदि वह पूजन की गई हो ।

नाऽऽतुराऽपथ्यतुल्यं यद्दानं तदपि चेष्यते ।
पात्रे दीनादिवर्गे च पोष्यवर्गाऽविरोधतः ।।११।।

पोष्यवर्ग को हानिकारक न हो उस प्रकार से पात्र को तथा दीन आदि वर्ग को रोगी के अपथ्य समान न बने ऐसा दान भी पूर्वसेवा रूप मान्य हैं।

लिङ्गिनः पात्रमपचा विशिष्य स्वक्रियाकृतः ।
दीनाऽन्ध-कृपणादीनां वर्गः कार्याऽन्तराऽक्षमः ।।१२।।

साधु वेशधारी, स्वयं भोजन न बनानेवाले, आचार का पालन कारनेवाले

साधु दानपात्र कहे जाते हैं । कमाने आदि कार्य में असमर्थ ऐसे गरीब, अंध, कृपण आदि, जीव दीन आदि वर्ग कहे जाते हैं ।

सुदाक्षिण्यं दयालुत्वं दीनोद्धारः कृतज्ञता ।
जनाऽपवादभीरुत्वं सदाचाराः प्रकीर्तिताः ।।१३।।

सुदाक्षिण्य, दयालुता, दीनोद्धार, कृतज्ञता, लोकनिंदाभय यह सदाचार कहे गये हैं ।

रागो गुणिनि सर्वत्र, निन्दात्यागस्तथाऽऽपदि ।
अदैन्यं, सत्प्रतिज्ञत्वं सम्पत्तावपि नम्रता ।।१४।।

गुणवानों के प्रति राग, सर्वत्र निन्दा त्याग, आपत्ति में अदीन भाव, सत्प्रतिज्ञा पालन तथा संपत्ति होने पर भी नम्रता ये भी सदाचार कहे गये हैं।

अविरुद्धकुलाऽऽचारपालनं मितभाषिता ।
अपि कण्ठमतैः प्राणैरप्रवृत्तिश्च गर्हिते ।।१५।।

अविरुद्ध कुलाचार का पालन, अल्पभाषिता, कण्ठ में प्राण आने पर भी निंदनीय प्रवृत्ति नहीं करना ये सदाचार कहे गये हैं ।

प्रधानकार्यनिर्बन्धः सद्व्ययोऽसद्व्ययोज्झनम् ।
लोकानुवृत्तिरुचिता प्रमादस्य च वर्जनम् ।।१६।।

प्रधान कार्य का आग्रह रखना, धन आदि का सद्व्यय करना, असद्व्यय का त्याग, उचित प्रकार से लोक का अनुसरण करना और प्रमाद छोड़ना यह सदाचार कहे गये हैं ।

तपश्चान्द्रायणं कृच्छ्रं मृत्यघ्नं पापसूदनम् ।
आदिधार्मिकयोग्यं स्यादपि लौकिकमुत्तमम् ।।१७।।

चान्द्रायण तप, कृच्छ तप, मृत्युघ्न तप, पापसूदन तप आदि लौकिक तप भी आदिधार्मिक जीवों के योग्य उत्तम आराधना बन सकती हैं ।

एकैकं वर्धयेद् ग्रासं शुक्ले कृष्णे च हापयेत् ।
भुञ्जीत नाऽमावस्यायामेष चान्द्रायणो विधिः ।।१८।।

शुक्ल पक्ष में एक-एक कवल बढ़ाना और कृष्णपक्ष में एक-एक कवल घटाना तथा अमावस के दिन जीमना नहीं, यह चन्द्रायन तप की विधि है ।

सन्तापनादिभेदेन कृच्छ्रमुक्तमनेकधा ।
अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु हन्त सन्तारणं परम् ।।१९।।

सन्तापना आदि के भेद से कृच्छ्र तप अनेक प्रकार के हैं । अतिभयंकर अपराध होने पर भी सरलता से उसका पार पाने के लिए प्रकृष्ट हेतु यह कृच्छ्र तप है ।

मासोपवासमित्याहुर्मृत्युघ्नं तु तपोधनाः ।
मृत्युञ्जजपोपेतं परिशुद्धं विधानतः ।।२०।।

एक मास के उपवास को तपस्वी मृत्युघ्न तप कहते हैं । विधिपूर्वक मृत्युंजय तप-जप से युक्त हो तो परिशुद्ध बनता हैं ।

पापसूदनमप्येवं तत्तत्पापाद्यपेक्षया ।
चित्रमन्त्रजपप्रायं प्रत्यापत्तिविशोधितम् ।।२१।।

पाप सूदन तप भी इसी प्रकार उन-उन पाप आदि की अपेक्षा से विविध मंत्रो के जप से युक्त तथा उन-उन पापस्थानों से पूनः लौटने के द्वारा शुद्ध बनता है ।

मोक्षः कर्मक्षयो नाम भोगसंक्लेशवर्जितः ।
तत्र द्वेषो दृढाऽज्ञानादनिष्टप्रतिपत्तितः ।।२२।।

भोग के संक्लेश से रहित, कर्मक्षय स्वरूप मोक्ष है । दृढ अज्ञान के कारण अनिष्ट बुद्धि से उस मोक्ष के प्रति द्वेष होता है ।

भवाभिनन्दिनां सा च भवशर्मोत्कटेच्छया ।
श्रुयन्ते चैतदालापा लोके शास्त्रेऽप्यसुन्दराः ।।२३।।

सांसारिक सुख की उत्कृष्ट इच्छा से भवादिनंदी जीवों को मोक्ष में अनिष्टपने की बुद्धि खड़ी होती है । इस कारण से मोक्ष के विषय में, लोक में और कुशास्त्रों में भी बुरी बाते सुनी जाती हैं ।

मदिराक्षी न यत्राऽस्ति तारुण्यमदविह्वला ।
जडस्तं मोक्षमाचष्टे प्रिया स इति नो मतम् ।।२४।।

जवानी के उन्माद से विह्वल बनी तथा मदिरा से नशिली बनी नैत्रवाली स्त्री जहाँ न हो उसी को मूर्ख लोग मोक्ष कहते हैं । किंतु पत्नी ही मोक्ष है यह हमारा मत है ।

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम् ।
न त्वेवाऽविषयो मोक्षः कदाचिदपि गौतम ।।२५।।

हे गौतम ! रम्य वृन्दावन में शियालपनो की इच्छा करना श्रेष्ठ हैं । किन्तु विषय शून्य मोक्ष कभी भी ठीक नहीं है ।

द्वेषोऽयमत्यनर्थाय तदभावस्तु देहिनाम् ।
भवाऽनुत्कटरागेण सहजाऽल्पमलत्वतः ।।२६।।

यह मुक्तिद्वेष अत्यंत अनर्थ के लिए है । जीवों के सहज मल की अल्पता के द्वारा संसार की गाढ़ आसक्ति घटने से मुक्ति द्वेष का अभाव होता है ।

मलस्तु योग्यता योग-कषायाख्याऽऽत्मनो मता ।
अन्यथाऽतिप्रसङ्गः स्याज्जीवत्वस्याऽविशेषतः ।।२७।।

मल अर्थात् योग और कषाय नाम की कर्मबन्ध की आत्मा की योग्यता। न मानने पर जीवत्त्व समान होने के कारण सिद्ध के जीव में भी कर्मबन्ध के अतिप्रसंग का दोष आता है ।

प्रागबन्धान्न बन्धश्चेत् किं तत्रैव नियामकम् ।
योग्यतां तु फलोन्नेयां बाधते दूषणं न तत् ।।२८।।

पहले बंध न होने से मोक्ष में बंध नहीं होता है । यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उसमें नियामक कौन है ? योग्यता का अनुमान फल से होता अतः उसे वह दूषण बाधित नहीं करता है ।

दिदृक्षा भवबीजं चाऽविद्या चाऽनादिवासना ।
भङ्ग्येषैवाश्रिता सांख्य-शैव-वैदान्ति-सौगतैः ।।२९।।

दिदृक्षा, भवबीज, अविद्या और अनादिवासना शब्द द्वारा क्रमशः सांख्य, शैव, वैदान्ती और बौद्ध द्वारा ये ही योग्यता स्वीकारी गई हैं ।

प्रत्यावर्तं व्ययोऽप्यस्यास्तदल्पत्वेऽस्य सम्भवः ।
अतोऽपि श्रेयसां श्रेणी किं पुनर्मुक्तिरागतः ।।३०।।

प्रत्येक पुद्गलावर्त में कर्मबंध योग्यता घटती है । उसके घटने पर मुक्ति का अद्वेष सम्भव हैं । मुक्ति के अद्वेष से भी कल्याण की परम्परा प्राप्त होती

है । मुक्तिराग से होनेवाली कल्याण की परम्परा की तो बात ही क्या करना?

न चायमेव रागः स्यान्मृदुमध्याधिकत्वतः ।
तत्रोपाये च नवधा योगिभेदप्रदर्शनात् ।।३१।।

मुक्ति अद्वेष ही मुक्तिराग नहीं है क्योंकि मुक्तिराग मृदु, मध्यम और अधिक प्रमाण में होता हैं । मुक्तिराग के उपाय में नो प्रकार के योगी के भेद शास्त्र में बताएँ गये हैं ।

द्वेषस्याऽभावरूपत्वादद्वेषश्चैक एव हि ।
ततः क्षिप्रं क्रमाच्चाऽतः परमानन्दसम्भवः ।।३२।।

अद्वेष तो द्वेष के अभाव स्वरूप होने से एक समान ही है मोक्षराग से मोक्ष शीघ्र संभव है । जबकि मुक्ति अद्वेष से कालक्रमे मोक्ष संभव है ।

मुक्ति अद्वेषप्राधान्यद्वात्रिंशिका-१३

उक्तभेदेषु योगीन्द्रैर्मुक्त्यद्वेषः प्रशस्यते ।
मुक्त्युपायेषु नो चेष्टा मलनायैव यत्ततः ।।१।।

पूर्वसेवा के उपरोक्त प्रकारों में योगीश्वरों ने मुक्ति अद्वेष की प्रशंसा की है । क्योंकि मुक्ति अद्वेष से मुक्ति उपाय में होनेवाली प्रवृत्ति, विनाश का निमित्त नहीं बनती है ।

विषाऽन्नतृप्तिसदृशं तद्यतो व्रतदुर्ग्रहः ।
उक्तः शास्त्रेषु शस्त्राऽग्नि-व्यालदुर्ग्रहसन्निभः ।।२।।

व्रत को गलत प्रकार से ग्रहण करना यह विषाक्त भोजन से होनेवाली तृप्ति के समान है । क्योंकि व्रत का गलत प्रकार से ग्रहण करने को शास्त्र में अग्नि और सर्प को गलत प्रकार पकड़ने के समान कहा गया है ।

ग्रैवेयकाऽऽप्तिरप्यस्माद्विपाकविरसाऽहिता ।
मुक्त्यद्वेषश्च तत्राऽपि कारणं न क्रियैव हि ।।३।।

महाव्रत को गलत प्रकार से ग्रहण करने से होनेवाली ग्रैवेयक स्वर्ग की प्राप्ति भी परिणाम में विरस और अहितकारी ही है । ग्रैवेयक की प्राप्ति में मुक्ति अद्वेष भी कारण है मात्र क्रिया नहीं ।

लाभाद्यर्थितयोपाये फले चाऽप्रतिपत्तितः ।
व्यापन्नदर्शनानां हि न द्वेषो द्रव्यलिङ्गिनाम् ।।४।।

सम्यगदर्शन से भ्रष्ट द्रव्यलिंगी को मोक्ष के उपायभूत चारित्र आदि में द्वेष नहीं होता है । क्योंकि द्रव्यचारित्र के फलस्वरूप स्वर्ग आदि लाभ के वे इच्छुक हैं । वे मोक्ष को मानते ही नहीं है, इसलिए उसमें उनको द्वेष भी नहीं है ।

मुक्तौ च मुक्त्युपाये च मुक्त्यर्थं प्रस्थिते पुनः ।
यस्य द्वेषो न तस्यैव न्याय्यं गुर्वादिपूजनम् ।।५।।

मोक्ष, मोक्षमार्ग के उपाय और मोक्षमार्ग के यात्री के प्रति जिसको द्वेष न हो उसका ही गुरुपूजन उचित है ।

गुरुदोषवतः स्वल्पा सत्क्रियापि गुणाय न ।
भौतहन्तुर्यथा तस्य पदस्पर्शनिषेधनम् ।।६।।

बड़े दोषवाले जीव को छोटी सत्क्रिया भी लाभकारी नहीं होती है, जैसे कि भौतऋषि को मारनेवाले भील ने भौतऋषि के चरण स्पर्श का परिहार किया था ।

मुक्त्यद्वेषान्महापापनिवृत्त्या यादृशो गुणः ।
गुर्वादिपूजानात्तादृक केवलान्न भवेत्क्वचित् ।।७।।

महापाप की निवृत्ति होने के कारण मुक्ति अद्वेष से जैसा गुण-लाभ होता है वैसा गुण-लाभ मात्र गुरु आदि की पूजन से कभी नहीं होता है ।

एकमेव ह्यनुष्ठानं कर्तृभेदेन भिद्यते ।
सरुजेतरभेदेन भोजनाऽऽदिगतं यथा ।।८।।

गाथार्थ : कर्ता बदलने से एक ही अनुष्ठान बदल जाता है, जैसे कि रोगी और स्वस्थ व्यक्ति के द्वारा की गई भोजन की क्रिया समान होने पर भी फल की भिन्नता होती है ।

भवाभिष्वङ्गतस्तेनाऽनाभोगाच्च विषादिषु ।
अनुष्ठानत्रयं मिथ्या द्वयं सत्यं विपर्ययात् ।।९।।

संसार आसक्ति और अज्ञान के कारण विष आदि अनुष्ठानों में प्रथम तीन अनुष्ठान मिथ्या हैं तथा इनके विपरीत होने से अंतिम दो अनुष्ठान सही हैं ।

इहाऽमुत्र फलाऽपेक्षा भवाडभिष्वङ्ग उच्यते ।
क्रियोचितस्य भावस्याऽनाभोगस्त्वतिलङ्घनम् ।।१०।।

इस लोक और परलोक के फल ही अपेक्षा भवतृष्णा कही जाती है। क्रिया के उचित भाव का उल्लंघन अनाभोग (अज्ञान) कहा जाता है ।

विषं गरोऽनुनुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुर्वादिपूजाऽनुष्ठानमिति पञ्चविधं जगुः ।।११।।

गुरुपूजा आदि अनुष्ठान पांच प्रकार के कहे गये हैं- (१) विषं, (२) गर, (३) अननुष्ठान, (४) तद् हेतु अनुष्ठान, और (५) अमृत अनुष्ठान ।

विषं लब्ध्याद्यपेक्षातः क्षणात्सच्चित्तनाशनात् ।
दिव्यभोगभिलाषेण गरः कालान्तरे क्षयात् ।।१२।।

लब्धि आदि की अपेक्षा से वर्तमान सत् चित्त का नाश करना विष अनुष्ठान है । दिव्य भोग की इच्छा से कालान्तर में सत् चित्त का नाश करने से वह अनुष्ठान गरानुष्ठान होता है ।

सम्मोहादननुष्ठानं सदनुष्ठानरागतः ।
तद्धेतुरमृतं तु स्याच्छ्रद्धया जैनवर्त्मनः ।।१३।।

संमोहन से होनेवाली आराधना अननुष्ठान है । सद्नुष्ठान के राग से आराधना हो तो तद्हेतु अनुष्ठान है तथा अमृत अनुष्ठान तो जिनमार्ग की श्रद्धा से होता है ।

चरमे पुद्‌गलाऽऽवर्ते तदेवं कर्तृभेदतः ।
सिद्धमन्यादृशं सर्वं गुरुदेवादिपूजनम् ।।१४।।

अंतिम पुद्‌गलावर्त में कर्ता बदल जाने से गुरुपूजन आदि सभी पूर्वसेवा अलग प्रकार की ही होती है यह सिद्ध होता है ।

सामान्ययोग्यतैव प्राक् पुंसः प्रववृते किल ।
तदा समुचिता सा तु सम्पन्नेति विभाव्यताम् ।।१५।।

पूर्व में जीव में सामान्य योग्यता ही प्रवर्तती थी जबकि चरमावर्त काल में तो वह योग्यता समुचित हो जाती हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

चतुर्थं चरमावर्ते प्रायोऽनुष्ठानमिष्यते ।
अनाभोगादिभावे तु जातु स्यादन्यथापि हि ।।१६।।

चरमावर्त में प्रायः तद्हेतु अनुष्ठान ही मान्य है। अनाभोग (अज्ञान) आदि भाव हो तो अन्य अनुष्ठान भी संभव हैं ।

नन्वद्वेषोऽथवा रागो मोक्षे तद्धेतुतोचितः ।
आद्ये तत् स्यादभव्यानामन्त्ये न स्यात्तदद्विषाम् ।।१७।।

तद्हेतुता के उचित, मुक्ति अद्वेष है अथवा मुक्ति राग ? प्रथम विकल्प में अभव्य को तद्हेतु अनुष्ठान मानना पड़ेगा दूसरे विकल्प में मुक्ति अद्वेष वाले जीव में वह संगत नहीं होता है ।

न चाद्वेषे विशेषस्तु कोऽपीति प्राग् निदर्शितम् ।
ईषद्रागाद्विशेषश्चेदद्वेषोपक्षयस्ततः ।।१८।।

मुक्ति अद्वेष में कोई भी भेद नहीं हैं- इस प्रकार पूर्व में कहा गया हैं । यदि कुछ राग से उसमें विशेषता बताई जाती है तो भी मुक्ति अद्वेष अन्यथा सिद्ध होगा । क्योंकि इषद्राग से ही तद्हेतु अनुष्ठान सिद्ध होता है ।

उत्कटानुत्कटत्वाभ्यां प्रतियोगिकृतोऽस्त्वयम् ।
नैवं सत्यामुपेक्षायां द्वेषमात्रवियोगतः ।।१९।।

प्रतियोगी ऐसे द्वेष की उत्कटता और अनुत्कटता द्वारा मुक्ति अद्वेष में भेद हो सकता है । इस प्रकार नहीं कहना क्योंकि उपेक्षा हो तो सभी प्रकार के द्वेष विनष्ट हो जाते हैं ।

सत्यं बीजं हि तद्धेतोरेतदन्यतराऽर्जितः ।
क्रियारागो न तेनाऽतिप्रसङ्गः कोऽपि दृश्यते ।।२०।।

उपरोक्त बात सत्य है । किंतु मुक्ति अद्वेष अथवा मुक्ति राग इन दोनों में से कोई भी एक के द्वारा उत्पन्न हुआ क्रियाराग यह तद्हेतु अनुष्ठान का बीज है । अतः कोई भी अतिप्रसंग नहीं दिखाई देता है ।

अपि बाध्या फलाऽपेक्षा सदनुष्ठानरागकृत् ।
सा च प्रज्ञापनाऽधीना मुक्त्यद्वेषमपेक्षते ।।२१।।

बाध्य फलापेक्षा भी सद्नुष्ठान में राग करनेवाली है । वह उपदेश के आधीन है तथा मुक्ति अद्वेष की अपेक्षा रखती है ।

आबाध्या सा हि मोक्षाऽर्थशास्त्रश्रवणघातिनी ।
मुक्त्यद्वेषे तदन्यस्यां बुद्धिर्मार्गानुसारिणी ।।२२।।

अबाध्य ऐसी फलापेक्षा ही मोक्षप्रतिपादकः शास्त्र के श्रवण का घात करनेवाली है । इसलिए मुक्ति का अद्वेष हो तब बाध्य फलापेक्षा होने पर बुद्धि मार्गानुसारी होती है ।

तत्तत्फलार्थिनां तत्तत्तपस्तन्त्रे प्रदर्शितम् ।
मुग्धमार्गप्रवेशाय दीयतेऽप्यत एव च ।।२३।।

इसलिए उस फल के अर्थी को वह-वह तप शास्त्र में बताया गया है।

इसलिए मुग्धजीवों को मार्ग में प्रवेश करने के लिए वह-वह तप दिया भी जाता है ।

इत्थं च वसुपालस्य भवभ्रान्तौ न बाधकम् ।
गुणाऽद्वेषो न यत्तस्य क्रियारागप्रयोजकः ।।२४।।

इस प्रकार मानने से मुक्ति अद्वेष वसुपाल चोर को भवभ्रमण में बाधक नहीं बना था । वह बात संगत है, क्योंकि उसका गुण अद्वेष सदनुष्ठान राग का प्रयोजक नहीं बना था ।

जीवातुः कर्मणां मुक्त्यद्वेषस्तदयमीदृशः ।
गुणरागस्य बीजत्वमस्यैवाऽव्यवधानतः ।।२५।।

उपरोक्त कारण से सदनुष्ठान के राग का प्रयोजक इस प्रकार का मुक्ति अद्वेष क्रिया को जीवित करनेवाला है । अधिकृत मुक्ति अद्वेष ही अव्यवधान से गुणानुराग का बीज हैं ।

धारालग्नः शुभो भाव एतस्मादेव जायते ।
अन्तस्तत्वविशुद्ध्या च विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वतः ।।२६।।

उस प्रकार के मुक्ति अद्वेष से ही धाराबद्ध शुभ भाव जन्मते हैं । क्योंकि उसके निमित्त से आत्मा की शुद्धि होने से कदाग्रह की निवृत्ति होती है ।

अस्मिन् सत्साधकस्येव नास्ति काचिद् बिभीषिका ।
सिद्धेरासन्नभावेन प्रमोदस्यान्तोदयात् ।।२७।।

ऐसा मुक्ति अद्वेष हो तो सिद्धि समीप होने से अंतःकरण में आनन्द उछलने के कारण सत्साधक के समान कोई भय धर्मात्मा के अंदर में उत्पन्न नहीं होता है ।

चरमावर्तिनो जन्तोः सिद्धेरासन्नता ध्रुवम् ।
भूयांसोऽमी व्यतिक्रान्तास्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ ।।२८।।

चरमावर्ती जीव का मोक्ष अत्यन्त निकट है- यह बात निश्चित है । बहुत सारे पुद्गल परावर्तन व्यतित हो गये । उनमें यह एक अंतिम पुद्गल परावर्तन अर्थात् सिंधु में एक बिंदु है ।

मनोरथिकमित्थं च सुखमास्वादयन् भृशम् ।
पीड्यते क्रियया नैव बाढं तत्राऽनुरज्यते ।।२९।।

इस प्रकार मनोरथिक सुख का अत्यंत आस्वाद करते हुए साधक क्रिया द्वारा पीड़ित नहीं होता है बल्कि क्रिया में अत्यंत राग होता है ।

प्रसन्नं क्रियते चेतः श्रद्धयोत्पन्नया ततः ।
मलोज्झितं हि कतकक्षोदेन सलिलं यथा ।।३०।।

धर्मक्रिया के राग से उत्पन्न हुई श्रद्धा द्वारा मन प्रसन्न होता हैं। जैसे फिटकड़ी के चूर्ण से पानी मेल रहित किया जाता है वैसा यहाँ समझना ।

वीर्योल्लासस्ततश्च स्यात्ततः स्मृतिरनुत्तरा ।
ततः समाहितं चेतः स्थैर्यमप्यवलम्बते ।।३१।।

मन की निर्मलता से वीर्योल्लास प्रगट होता हैं। उसमें स्मृति श्रेष्ठ कोटि की होती है । तीव्र स्मृति से समाधि पाया मन स्थिरता को भी धारण करता है ।

अधिकारित्वमित्थं चाऽपुनर्बन्धकतादिना ।
मुक्त्यद्वेषक्रमेण स्यात् परमानन्दकारणम् ।।३२।।

इस प्रकार अपुनर्बंधकता आदि अवस्था से मुक्ति अद्वेष के क्रम से धर्म का अधिकारित्व निश्चित होता है । वह धर्माधिकारित्व परमानन्द का कारण है।

अपुनर्बन्धक द्वात्रिंशिका-१४

शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो वर्धमानगुणः स्मृतः ।
भवाभिनन्दिदोषाणामपुनर्बन्धको व्यये ।।१।।

भवाभिनंदित्व के दोष नष्ट होने पर शुक्लपक्ष के चन्द्र के समान बढ़ते हुए गुणवाला जीव अपुनर्बंधक कहलाता है ।

अस्यैव पूर्वसेवोक्ता मुख्याऽन्यस्योपचारतः ।
अस्यावस्थान्तरं मार्गपतिताऽभिमुखौ पुनः ।।२।।

अपुनर्बंधक की पूर्व सेवा ही प्रमुख कही गई है। इसके अतिरिक्त अन्य जीवों की पूर्वसेवा औपचारिक कही गई है। अपुनर्बंधक की अवस्था के अन्तर्गत ही जीव मार्गपतित और मार्गाभिमुख कहे गये हैं ।

योग्यत्वेऽपि व्यवहितौ परे त्वेतौ पृथग् जगुः ।
अन्यत्राप्युपचारस्तु सामीप्ये बह्वभेदतः ।।३।।

अन्य विद्वान इस प्रकार कहते हैं कि, मार्गपतित और मार्गाभिमुख ये दोनों जीव योग्य होने पर भी दूर रहे होने से अपुनर्बन्धक से भिन्न हैं । सकृतबंधक आदि में भी पूर्वसेवा का उपचार होता है । क्योंकि अपुनर्बंधक के समीप होने से उसमें बहुत अंतर नहीं है ।

परिणामिनि कार्यद्धि सर्वथा नास्ति भिन्नता ।
तत्प्रकृत्या विनाप्युहमन्यत्रैणां परे जगुः ।।४।।

कार्य में परिणत होनेवाला कारण अर्थात् परिणामि कारण में कार्य से सर्वथा भिन्नता नहीं होती है । अन्य विद्वान् इस प्रकार कहते हैं कि प्रकृति से ही सकृद्बंधक आदि में उहापोह न होने से औपचारिक पूर्वसेवा होती है।

युक्तं चैतन्मले तीव्रे भवासङ्गो न हीयते ।
सङ्क्लेशाऽयोगतो मुख्या साऽन्यथा नेति हि स्थितिः।।५।।

पूर्वोक्त बात युक्ति संगत है क्योंकि मल तीव्र हो तो संसार की आसक्ति घटती नहीं । संक्लेश न होने से ही पूर्वसेवा मुख्य कहलाती अन्यथा नहीं, इस प्रकार शास्त्र की मर्यादा कही गई है ।

एष्यद्भद्रां समाश्रित्य पुंसः प्रकृतिमीदृशीम् ।
व्यवहारः स्थितः शास्त्रे युक्तमुक्तं ततो ह्यदः ।।६।।

आत्मा को कल्याणकारी ऐसे पुरुष की प्रकृति का आश्रय करके शास्त्र में पूर्वसेवा रूप व्यवहार प्रसिद्ध हैं । इसलिए पूर्व में जो कहा गया है वह युक्ति संगत है ।

शान्तोदात्तस्तयैव स्यादाश्रयः शुभचेतसः ।
धन्यो भोगसुखस्येव वित्ताढ्यो रूपवान् युवा ।।७।।

भद्र प्रकृति के कारण ही जीव शांत और उदात्त बनता है । जिस प्रकार धनसंपन्न, रूपवान्, पूण्यवान् युवक भोग-सुख का भोगी बनता है । उसी प्रकार उपरोक्त जीव शुद्ध चित्त का आधार बनता है ।

अङ्गाभावे यथा भोगोऽतात्त्विको मानहानितः।
शान्तोदात्तत्वविरहे क्रियाप्येवं विकल्पजा ।।८।।

भोग के साधन न होने पर भोग की कल्पना करना वह अतात्त्विक है। क्योंकि उससे मानहानि होती हैं । वैसे ही शांतपना और उदात्तपना के अभाव में धर्मक्रिया वैकल्पि (अतात्त्विक) बनती है ।

क्रोधाद्यबाधितः शान्त उदात्तस्तु महाशयः ।
बीजं रूपं फलं चायमूहते भवगोचरम् ।।९।।

क्रोध आदि से व्याकुल न हो वे शांत कहलाते हैं । जिसका आशय महान होता है अर्थात् उदारचित्त होता है वह उदात्त कहलाता है । इस प्रकार का जीव संसार संबंधी कारण, स्वरूप और फल की विचारणा करता है ।

भेदे हि प्रकृतेर्नैक्यमभेदे च न भिन्नता ।
आत्मनां स्यात्स्वभावस्याऽप्येवं शबलतोचिता ।।१०।।

यदि आत्मा और प्रकृति एकांत भिन्न हो तो संसारी जीवों में एकत्व नहीं हो सकता है और सर्वथा अभेद हो तो संसारी जीवों में भेद-भाव नहीं दिखाई दे सकता है । इसी प्रकार स्वभाव का एकांत भेद अथवा अभेद मानने में यह दोष रहा हुआ है । इसलिए कंथचित् भेदाभेद मानना उचित है ।

भवोऽयं दुःखगहनो जन्म-मृत्यु-जरामयः ।
अनादिरप्युपायेन पृथग्भवितुमर्हति ।।११।।

यह संसार दुःख से व्याप्त है । जन्म-जरा और मरण से युक्त है । अनादि होने पर भी उपाय के द्वारा संसार को दूर किया जा सकता है ।

फलं भवस्य विपुलः क्लेश एव विजृम्भते ।
न्यग्भाव्याऽऽत्मस्वभावं हि पयो निम्बरसो यथा ।।१२।।

संसार का फल मात्र विपुल क्लेश ही है । जिस प्रकार नीम का रस दूध के मधुर स्वभाव को नगण्य कर कडुता फैलाता है वैसे ही संसारी जीव आत्मस्वभाव को नगण्य करके मात्र दुःख ही बढ़ाता है ।

तद्वियोगाश्रयोऽप्येवं सम्यगूहोऽस्य जायते ।
तत्तत्तन्त्रनयज्ञाने विशेषाऽपेक्षयोज्ज्वलः ।।१३।।

इस प्रकार संसार के वियोग के आश्रय से भी शांत और उदात्त जीव को सम्यक् विचार जागते हैं । उन-उन धर्मशास्त्रों के अभिप्राय का बोध होने पर विशेष गुणधर्मों की जिज्ञासा के द्वारा विचार उज्ज्वल बनते हैं ।

योजनाद्योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः ।
स निवृत्ताऽधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ।।१४।।

जीव को मोक्ष के साथ जोड़े वह श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा योग कहा गया है । वह योग प्रकृति का अधिकार निवृत्त होने पर आंशिक रूप से निश्चित प्राप्त होता है ।

गोपेन्द्रवचनादस्मादेवंलक्षणशालिनः ।
परैरस्येष्यते योगः प्रतिश्रोतोऽनुगत्वतः ।।१५।।

इस प्रकार गोपेन्द्र के वचन से उपरोक्त लक्षण युक्त जीव में अन्य दार्शनिको के द्वारा योग मान्य किया गया है । क्योंकि वह इन्द्रिय आदि से प्रतिकुल वर्तन करता है ।

तत्क्रियायोगहेतुत्वद्योग इत्युचित्तं वचः ।
मोक्षेऽतिदृढचित्तस्य भिन्नग्रन्थेस्तु भावतः ।।१६।।

क्रियायोग का हेतु होने से "योजनात् योगः" इस प्रकार का गोपेन्द्र का वचन योग्य है । मोक्ष में अत्यंत दृढ़ चित्तवाले, भिन्न ग्रन्थि अर्थात् सम्यक्त्वी जीव को तो भाव से योग होता है ।

अन्यसक्तस्त्रियो भर्तृयोगोप्यश्रेयसे यथा ।
तथाऽमुष्य कुटुम्बादिव्यापारोऽपि न बन्धकृत् ।।१७।।

जिस प्रकार परपुरुष में आसक्त स्त्री अपने पति की सेवा करती है तो वह उसके अकल्याण के लिए होता हैं। उसी प्रकार सम्यक्त्वी को कुटुम्ब के भरण-पोषण आदि की प्रवृत्ति भी कर्म के बंध करनेवाली नहीं होती है ।

निजाऽऽशयविशुद्धौ हि बाह्यो हेतुरकारणम् ।
शुश्रुषादिक्रियाऽप्यस्य शुद्धा श्रद्धानुसारिणी ।।१८।।

स्वयं का आशय विशुद्ध हो तो बाह्य हेतु कर्मबन्ध के कारण नहीं बन सकते हैं । सम्यक्त्वी की शुश्रूषा आदि क्रिया भी शुद्ध श्रद्धा के अनुसरण करनेवाली होती है ।

एतन्निश्चयवृत्त्यैव यद्योगः शास्त्रसंज्ञिनः ।
त्रिधा शुद्धादनुष्ठानात् सम्यक्प्रत्ययवृत्तितः ।।१९।।

उपरोक्त बात निश्चयदृष्टि से समझनी चाहिए क्योंकि शास्त्र द्वारा प्रवर्तमान जीव को ही योग होता है । ऐसे जीव को तीन प्रकार के शुद्धानुष्ठान से तीन प्रकार के सम्यक् प्रत्यय से होती प्रवृत्ति योग कहलाती हैं ।

शास्त्रमासन्नभव्यस्य मानमामुष्मिके विधौ ।
सेव्यं युद्विचिकित्सायाः समाधेः प्रतिकूलता ।।२०।।

निकट मोक्षगामी जीव को पारलौकिक कार्य में शास्त्र ही प्रमाणभूत है। अतः सर्वत्र मोक्ष की साधना में शास्त्र की सेवा करना चाहिए क्योंकि विचिकित्सा (शंसय) तो समाधि के प्रतिकूल है ।

विषयाऽऽत्माऽनुबन्धैस्तु त्रिधा शुद्धं यथोत्तरम् ।
प्रधानं कर्म तत्राऽऽद्यं मुक्त्यर्थं पतनाद्यपि ।।२१।।

विषय आत्मा और अनुबंध द्वारा शुद्ध हुआ अनुष्ठान तीन प्रकार का होता है । उत्तरोत्तर यह अनुष्ठान श्रेष्ठ होता है । उसमें प्रथम अनुष्ठान है मोक्ष के लिए भृगुपात करना आदि है ।

स्वरूपतोऽपि सावद्यमादेयाऽऽशयलेशतः ।
शुभमेतद् द्वितीयं तु लोकदृष्ट्या यमादिकम् ।।२२।।

स्वरूप से सावद्य होने पर भी आंशिक रूप से उपादेय, मोक्ष का आशय होने से उपरोक्त प्रथम अनुष्ठान शुभ है । दूसरा अनुष्ठान तो लोकदृष्टि से होनेवाले यम-नियम हैं ।

तृतीयं शान्तवृत्त्यादस्तत्त्वसंवेदनाऽनुगम् ।
दोषहानिस्तमोभून्मा नाऽऽद्याज्जन्मोचितं परे ।।२३।।

शांतवृत्ति से होनेवाली तत्त्वसंवेदन से युक्त यम-नियम आदि की आराधना को अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान कहा जाता है । प्रथम अनुष्ठान से दोष-हानी नहीं होती है । कुछ आचार्यों के मतानुसार विषयशुद्ध अनुष्ठान के द्वारा उचित जन्म मिलता है ।

मुक्तीच्छापि सतां श्लाघ्या न मुक्तिसदृशं त्वदः ।
द्वितीयात्सानुवृत्तिश्च सा स्याद्दर्दुरचूर्णवत् ।।२४।।

मोक्ष की इच्छा भी सज्जनों के लिए प्रशंसनीय है । परंतु विषयशुद्ध अनुष्ठान मुक्ति समान नहीं । दूसरे अनुष्ठान के द्वारा मेंढक के चूर्ण के समान अनुवृत्तियुक्त दोष-हानि होती है ।

कुराजवप्रप्रायं तन्निर्विवेकमदः स्मृतम् ।
तृतीयात्सानुबन्धा सा गुरुलाघवचिन्तया ।।२५।।

उपरोक्त कारण से बुरे राजा के किले के समान विवेक शून्य दूसरा अनुष्ठान माना गया है । गुरुता-लघुता पूर्वक विचारणा होने के कारण त्रीसरे अनुष्ठान से होनेवाली दोष-हानि सानुबंध होती है ।

गृहाद्यभूमिकाकल्पमतस्तत् कैश्चिदुच्यते ।
उदग्रफलदत्वेन मतमस्माकमप्यदः ।।२६।।

कुछ आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि- अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान घर की मजबूत नींव के समान है । उदार फलदेने के कारण हम इस बात को मानते हैं ।

आत्मनेष्टं गुरुर्ब्रूते लिङ्गान्यपि वदन्ति तत् ।
त्रिधायं प्रत्ययः प्रोक्तः सम्पूर्णं सिद्धिसाधनम् ।।२७।।

स्वयं को इष्ट हो गुरु वही बात बताते हैं । निमित्त भी उसी प्रकार के मिलते हैं । इस प्रकार तीन प्रकार के प्रत्यय कहें गये हैं । वे नियम से

सम्पूर्ण सिद्धि के साधन हैं ।

सिद्धिः सिद्ध्यनुबद्धैव न पातमनुबध्नती ।
हाठिकानामपि ह्येषा नाऽऽत्मादिप्रत्ययं विना ।।२८।।

जो सिद्धि अन्य सिद्धि को उपलब्ध कराती है, पतन को नहीं लाती, वह तात्त्विक सिद्धि जानना चाहिए । बलात्कार से काम करनेवाले की कार्य सिद्धि भी आत्मा आदि त्रिविद्य प्रत्यय के बिना संगत नहीं है ।

सद्योगाऽऽरम्भकस्त्वेनं शास्त्रसिद्धमपेक्षते ।
सदा भेदः परेभ्यो हि तस्य जात्यमयूरवत् ।।२९।।

सद्योग आरम्भक जीव तो शास्त्रसिद्ध तीन प्रकार के प्रत्यय की अपेक्षा रखते हैं । निश्चित ही असद्योग आरंभक जीवों की अपेक्षा सद्योग आरम्भक जीव हमेशा भिन्न (अलग) होते हैं । जात्यमोर के समान ।

यथा शक्तिस्तदण्डादौ विचित्रा तद्वदस्य हि ।
गर्भयोगेऽपि मातृणां श्रूयतेऽत्युचिता क्रिया ।।३०।।

जिस प्रकार श्रेष्ठ मोर के अंडे आदि में विशिष्ट शक्ति होती है । वैसे ही सद्योग आरंभक में विशिष्ट शक्ति होती है । सद्योग आरंभक जीव का गर्भ योग होने पर माता की अत्यंत उचित क्रिया सुनी जाती है ।

सर्वोत्तमं यदेतेषु भिन्नग्रन्थेस्तदिष्यते ।
फलवद्द्रुमसद्बीजप्ररोहोद्भेदसन्निभम् ।।३१।।

इन अनुष्ठानों में जो सर्वोत्तम अनुष्ठान होते हैं। वे भिन्न ग्रन्थिवाले जीव में ही मान्य हैं । वे उत्तम अनुष्ठान फलवाले वृक्ष के बीज के अंकुरित होने के समान हैं ।

तत्तत्तन्त्रोक्त मखिलमपुनर्बन्धकस्य च ।
अवस्थाभेदतो न्याय्यं परमानन्दकारणम् ।।३२।।

उन-उन शास्त्रों में कहे गये समस्त अनुष्ठान अपूनर्बन्धक जीव में भिन्न-भिन्न अवस्था की अपेक्षा से संगत होते हैं और वे अनुष्ठान परमानन्द के कारण बनते हैं ।

सम्यग्दृष्टिद्वात्रिंशिका - १५

लक्ष्यते ग्रन्थिभेदेन सम्यग्दृष्टिः स्वतन्त्रतः ।
शुश्रूषा-धर्मरागाभ्यां गुरुदेवादिपूजया ।।१।।

जैन सिद्धान्त के अनुसार ग्रन्थिभेद (तीव्र राग-द्वेष की गांठ को भेदन) के द्वारा सम्यग्दृष्टि होनेवाला जीव शुश्रूषा, धर्मराग और देव-गुरु आदि की पूजा करने के द्वारा पहचाना जाता हैं ।

भोगिकिन्नरगेयादिविषयाऽऽधिक्यमीयुषी ।
शुश्रूषाऽस्य न सुप्तेशकथाऽर्थविषयोपमा ।।२।।

भोगी पुरुष को किन्नरो के गान आदि सुनने की जो इच्छा होती हैं, उसकी अपेक्षा अधिक तीव्रतावाली धर्म सुनने की इच्छा समकिती जीव को होती हैं । सोये हुए राजा को कथा के अर्थ को सुनने की जो इच्छा होती है वैसी शुश्रूषा धर्म के विषय में समकिती जीव को नहीं होती है ।

अप्राप्ते भगवद्वाक्ये धावत्यस्य मनो यथा ।
विशेषदर्शिनोऽर्थेषु प्राप्तपूर्वेषु नो तथा ।।३।।

अप्राप्त जिनवचन में जिस प्रकार समकिती जीव का मन दौड़ता है, उस प्रकार से पूर्व प्राप्त धन आदि में नहीं दौड़ता है ।

धर्मरागोऽधिको भावाद् भोगिनः स्त्र्यादिरागतः ।
प्रवृत्तिस्त्वन्यथापि स्यात्कर्मणो बलवत्तया ।।४।।

भोगी को स्त्री आदि का जो राग होता है उससे अधिक राग समकिती को चारित्र धर्म के प्रति होता है । कर्म बलवान होने के कारण प्रवृत्ति कदाच अन्यथा भी हो सकती है ।

तदलाभेऽपि तद्रागबलवत्त्वं न दुर्वचम् ।
पूयिकाद्यपि यद् भुङ्क्ते घृतपूर्णप्रियो द्विजः ।।५।।

चारित्र न मिलने पर भी समकिती जीव को चारित्र धर्म पर अत्यधिक राग होता है यह बात असंगत नहीं है । क्योंकि जैसे घेवर प्रिय होने पर भी ब्राह्मण कुथित भोजन वापरता है ।

गुरुदेवादिपूजाऽस्य त्यागात्कार्यान्तरस्य च ।
भावसारा विनिर्दिष्टा निजशक्त्यनतिक्रमात् ।।६।।

स्वयं की शक्ति का अतिक्रमण किये बिना तथा अन्य सांसारिक कार्यों को छोड़कर समकिती जीव देव-गुरु आदि की पूजा श्रेष्ठ बहुमान भाव वाली पूवाचार्यों ने बतायी हैं ।

स्यादीदृक्करणे चाऽन्त्ये सत्त्वानां परिणामतः ।
त्रिधा यथाप्रवृत्तं तदपूर्वं चाऽनिवर्ति च ।।७।।

अंतिम करण होता है तब जीव को ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । जीवों के परिणाम के आधार पर करण तीन प्रकार के होते हैं- (१) यथाप्रवृत्तकरण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवर्तिकरण

ग्रन्थिं यावद् भवेदाद्यं द्वितीयं तदतिक्रमे ।
भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु योगिनाथैः प्रदर्शितम् ।।८।।

ग्रन्थि तक प्रथम करण होता है । ग्रंथि का उल्लंघन करें तब दूसरा करण होता है । ग्रन्थि भेद करने के पश्चात् तीसरा करण होता है । यह योगिनाथ के द्वारा बताया गया है ।

पतितस्याऽपि नाऽमुष्य ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य बन्धनम् ।
स्वाशयो बन्धभेदेन सतो मिथ्यादृशोऽपि तत् ।।९।।

समकिती जीव पतित होने पर भी ग्रन्थि भेद के समय की कर्मस्थिति का उल्लंघन करके कर्म बंधन नहीं करता है । अतः मिथ्यादृष्टि होने पर भी विशेष प्रकार के कर्मबंध के कारण उसका आशय ठीक होता है ।

एवं च यत्परैरुक्तं बोधिसत्त्वस्य लक्षणम् ।
विचार्यमाणं सन्नीत्या तदप्यत्रोपपद्यते ।।१०।।

इस प्रकार अन्य दर्शनकारों ने बोधिसत्त्व का जो लक्षण कहा है, उसको अच्छि तरह से चिन्तन किया जाय तो समकित जीव में संगत हो सकता है।

तप्तलोहपदन्यासतुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि ।
इत्युक्तेः कायपात्येव चित्तपाती न स स्मृतः ।।११।।

समकिती जीव यदि आरंभ आदि प्रवृत्ति करता है तो भी वह प्रवृत्ति तप्तलोहपदन्यास के समान होती है । इस प्रकार की शास्त्रोक्ति से सिद्ध होता

है कि समकिती जीव कायापाती ही होता है, चित्तपाती नहीं होता है ।

परार्थरसिको धीमान् मार्गगामी महाशयः ।
गुणरागी तथेत्यादि सर्वं तुल्यं द्वयोरपि ।।१२।।

वे दोनों (बोधिसत्त्व एवं समकित धारी) परोपकार करने में तत्पर प्रज्ञासम्पन्न मार्गानुसारी, महान आशयवाले, गुणानुरागी होते हैं । इस प्रकार दोनों समान होते हैं ।

बोधिप्रधानः सत्त्वो वा सद्बोधिर्भावितीर्थकृत् ।
तथाभव्यत्वतो बोधिसत्त्वो हन्त सतां मतः ।।१३।।

गाथार्थ : बोधि प्रधान सत्त्व (जीव), अथवा तथाभव्यता के कारण जो जीव भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है वह बोधिसम्पन्न जीव, अर्थात् बोधिसत्त्व हैं । ऐसा सज्जनों के द्वारा माना गया हैं ।

तत्तत्कल्याणयोगेन कुर्वन् सत्त्वार्थमेव सः ।
तीर्थकृत्वमवाप्नोति परं कल्याणसाधनम् ।।१४।।

गाथार्थ : उन-उन कल्याण के योग से परोपकार को ही करनेवाला वरबोधिसम्पन्न जीव श्रेष्ठ कल्याण का साधन ऐसा तीर्थंकर पद प्राप्त करता है।

संविग्नो भवनिर्वेदादात्मनिः सरणं तु यः ।
आत्मार्थसम्प्रवृत्तौऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ।।१५।।

जो संविग्न भव्यात्मा संसार के प्रति वैराग्य से स्वयं की आत्मा का उद्धार करने के लिए इच्छा करता है । उस स्वप्रयोजन से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करता हुआ जीव हमेशा मुण्डकेवली (सामान्य केवली) होता है ।

अंशतः क्षीणदोषात्वाच्छिष्टत्वमपि युक्तिमत् ।
अत्रैव हि परोक्तं तु तल्लक्षणमसङ्गतम् ।।१६।।

अंशतः दोषक्षीण हो जाने से शिष्टता का आचार समकिती जीव में ही युक्ति संगत होता हैं । दूसरे (एकांतवादियों) के द्वारा बताया गया शिष्टता का लक्षण तो बिल्कुल असंगत ही है ।

वेदप्रामाण्यमन्तृत्वं बौद्धे ब्राह्मणताडिते ।
अतिव्याप्तं द्विजेऽव्याप्तं स्वापे स्वारसिकं च तत् ।।१७।।

वेद प्रामाण्यमन्तृत्व, ब्राह्मण के द्वारा पीड़ित बौद्ध में अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त है तथा सोये हुए ब्राह्मण में स्वारसिक वेद प्रामाण्यमन्तृत्त्व अव्याप्त हैं।

तदभ्युपगमाद्यावत्र तद्व्यत्ययमन्तृता ।
तावच्छिष्टत्वमिति चेत्तदप्रामाण्यमन्तरि ।।१८।।

वेदप्रामाण्य को स्वीकार करने के बाद जब तक उसकी विरोधी मान्यता नहीं आती है तब तक शिष्टत्व होता है- ऐसा पूर्वपक्ष के द्वारा माना जाए तो वेद को जाने बिना वेद को अप्रमाण्य माननेवाले ब्राह्मण में अव्याप्ति होगी ।

अजानति च वेदत्वमव्याप्तं चेद्विवक्ष्यते ।
वेदत्वेनाऽभ्युपगमस्तथापि स्याददः किल ।।१९।।

वेद में वेदत्व न जाननेवाले ब्राह्मण में अव्याप्ति आऐगी । यदि वेदरूप में अप्रमाण्य स्वीकार की बात करते हो तो भी यह लक्षण निश्चित दोषग्रस्त हैं ।

ब्राह्मणः पातकात्प्राप्तः काकभावं तदापि हि ।
व्याप्नोतीशं च नोत्कृष्टज्ञानावच्छेदिका तनुः ।।२०।।

ब्राह्मण पाप के कारण कौआ बनता है तब भी शिष्टलक्षण वहाँ रहेगा। उत्कृष्ट ज्ञानावच्छेदक शरीर तो ईश्वर में रहता नहीं ।

अन्याऽङ्गरहितत्त्वं च तस्य काकभवोत्तरम् ।
देहान्तराऽग्रहदशामाश्रित्याऽतिप्रसक्तिमत् ।।२१।।

अपकृष्ट ज्ञान का अवच्छेदक शरीर न हो तब तक शिष्टत्व मानने पर ब्राह्मण कौएँ के भव के पश्चात् अन्य शरीर ग्रहण न करे उस अवस्था के आश्रय से अतिप्रसंग आएगा ।

अवच्छेदकदेहानामपकृष्टधियामथ ।
सम्बन्धविरहो यावान् प्रामाण्योपगमे सति ।।२२।।
अप्रामाण्याऽनुपगमस्तावत्कालीन एव हि ।
शिष्टत्वं काकदेहस्य प्रागभावस्तदा च न ।।२३।।

वेद प्रामाण्य को स्वीकार करने पर अपकृष्ट ज्ञानावच्छेद शरीर के संबंध का जब तक अभाव हो तब तक वेद अप्रमाण्य का अस्वीकार ही शिष्टत्व है । कौएँ की देह का प्रागभाव तब (कौएँ के मरण पश्चात् नूतन शरीर को

अस्वीकार के समय पर) नहीं था । इसलिए अतिव्याप्ति नहीं आती है, ऐसा पूर्वपक्ष का मंतव्य दो श्लोक के द्वारा बताया गया है ।

नैवं तदुत्तरे विप्रेऽव्याप्तेः प्राक्प्रतिपत्तितः ।
प्रामाण्योपगमात्तन्न प्राक् तत्रेति न सेति चेत् ।।२४।।

पद्मनाभ का उपरोक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि कौआ ब्राह्मण बनता है, तब पूर्वभवीय वेद प्रामाण्य स्वीकार की अपेक्षा से अव्याप्ति आएगी ।

यत्किञ्चिद्ग्रहे पश्चात् प्राक् च काकस्य जन्मनः ।
विप्रजन्माऽन्तराले स्यात्सा ध्वंसप्रागभावतः ।।२५।।

कोई भी वेद प्रामाण्य के स्वीकार को मान्य किया जाए तो कौएँ के भव के पूर्व एवं पश्चात् ब्राह्मण जन्म के अन्तराल में ध्वंस और प्राग् भाव की अपेक्षा से अतिव्याप्ति आएगी ।

जीववृत्तिविशिष्टाङ्गाऽभावाऽभावग्रहोऽप्यसन ।
उत्कर्षश्चाऽपकर्षश्चाव्यवस्थो यदपेक्षया ।।२६।।

जीववृत्ति विशिष्ट शरीर के अभाव का अभाव का प्रवेश भी अर्थहीन है । क्योंकि भिन्न-भिन्न अपेक्षा से उत्कर्ष और अपकर्ष अव्यवस्थित है ।

अपि चाऽव्याप्त्यतिव्याप्ती कात्स्न्र्य-देशविकल्पतः ।
आद्यग्रहे स्वतात्पर्यान्न दोष इति चेन्मतिः ।।२७।।

सम्पूर्णता और एक देश के विकल्प की अपेक्षा से क्रमशः अव्याप्ति और अतिव्याप्ति आएगी । स्वतात्पर्य (स्वयं के अभिप्राय) की अपेक्षा से यावद्वेदप्रामाण्य स्वीकार का (शिष्टता के लक्षण में) प्रवेश करने में कोई दोष नहीं है । यदि इस प्रकार का पूर्वपक्ष का मत हो तो (आगे के श्लोक में कहते हैं ।)

नैवं विशिष्य तात्पर्याऽग्रहे तन्मानताऽग्रहात् ।
सामान्यतः स्वतात्पर्ये प्रामाण्यं नोऽपि सम्मतम् ।।२८।।

उपरोक्त बात ठीक नहीं है क्योंकि कोई दुर्गम वेदवचन के तात्पर्य का विशेष ज्ञान न हो तो उस वेदवचन की प्रमाणता का बोध न होने से (अव्याप्ति दुर्वार बनेगी) स्वयं के अभिप्राय से सामान्यतः वेद प्रामाण्य तो हम जैनो को भी मान्य हैं ।

मिथ्यादृष्टिग्रहीतं हि मिथ्या सम्यगपि श्रुतम् ।
सम्यग्दृष्टिग्रहीतं तु सम्यग्मिथ्येति नः स्थितिः ।।२९।।

मिथ्यादृष्टि के द्वारा ग्रहण किया गया सम्यक् श्रुत भी मिथ्या बन जाता है । जबकि सम्यग्दृष्टि के द्वारा ग्रहीत मिथ्याश्रुत भी सम्यक् बन जाता है । ऐसी जैन शासन की व्यवस्था है ।

तात्पर्यं वः स्वसिद्धान्तोपजीव्यमिति चेन्मतिः ।
ननु युक्त्युपजीव्यत्वं द्वयोरप्यविशेषतः ।।३०।।

आपका तात्पर्य आपके सिद्धान्त का अवलंबन करनेवाला होने से नहीं चलता है । ऐसा जो पूर्वपक्ष का मत हो तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि हमको और पूर्वपक्ष को दोनों को युक्ति का अवलंबन तो समान ही है ।

उद्भावनमनिग्राह्यं युक्तरेव हि यौक्तिके ।
प्रामाण्ये च न वेदत्वं सत्यत्वं तु प्रयोजकम् ।।३१।।

युक्तिसंगत अर्थ में युक्ति का ही उद्भावन करना वह निग्रहस्थान नहीं है । प्रामाण्य में वेदत्व प्रयोजक नहीं है बल्कि सत्यता ही प्रयोजक है ।

शिटत्वमुक्तमत्रैव भेदेन प्रतियोगिनः ।
तमानुभविकं बिभ्रत् परमान्दवत्यतः ।।३२।।

इसलिए परमानंद वाले सम्यग्दृष्टि में ही प्रतियोगी के भेद से, दोष की तरतमता से अनुभवगम्य शिष्टत्व कहा गया है ।

ईशानुग्रविचार द्वात्रिंशिका-१६

महेशाऽनुग्रहात्केचिद्योगसिद्धिं प्रचक्षते ।
क्लेशाद्यैरपरामृष्टः पुंविशेसः स चेष्यते ।।१।।

कितने ही विद्वान महेश्वर की कृपा से योग की सिद्धि को कहते हैं। क्लेश आदि से अपरामृष्ट रहित पुरुष विशेष ईश्वर के रूप में मान्य है।

ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्ट्यम् ।।२।।

वह जगतपति का अप्रतिहत ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म ये चार तत्त्व सहज अनादि सिद्ध हैं।

सात्विकः परिणामोऽत्र काष्ठाप्रासतयेष्यते ।
नाऽक्षप्रणालिकाप्रास इति सर्वज्ञातास्थितिः ।।३।।

ईश्वर में सात्त्विक परिणाम पराकाष्ठा का माना गया है। वह सात्त्विक परिणाम इन्द्रिय प्रणालिका द्वारा आया हुआ नहीं है। इसलिए सर्वज्ञता की सिद्धि होती है।

ऋषीणां कपिलादिनामप्ययं परमो गुरुः ।
तदिच्छया जगत्सर्वं यथाकर्म विवर्तते ।।४।।

कपिल आदि पूर्व ऋषियों के भी परमगुरु ईश्वर है, ईश्वर की ईच्छानुसार सम्पूर्ण जगत कर्म के अनुसार प्रवृत्त होता है।

नेतद्युक्तमनुग्राहो तत्स्वभावत्वमन्तरा ।
नाऽणुः कदाचिदात्मा स्याद्देवतानुग्रहादपि ।।५।।

पांतजल विद्वानों की उपरोक्त बात को ग्रंथकार अप्रामाणिक साबित करते हुए कहते हैं कि, अनुग्रह होने पर भी उस प्रकार की योग्यता माने बिना उपरोक्त बात युक्ति संगत नहीं हो सकती है। क्योंकि देवताओं के अनुग्रह से भी जड़ अणु कभी भी आत्मा नहीं हो सकता है।

उभयोस्तत्स्वभावत्वभेदे च परिणामिता ।
अत्युकर्षश्च धर्माणामन्यत्राऽतिप्रसङ्गकः ।।६।।

यदि ईश्वर और आत्मा दोनों का उस प्रकार का विशिष्ट स्वभाव माने

तो वे दोनों परिणामी बन जाते हैं तथा ज्ञानादि गुणों का अति उत्कर्ष माने तो अन्यत्र (अज्ञान आदि में) अतिप्रसंग आएगा ।

आर्थं व्यापारमाश्रित्य तदाज्ञापालनात्मकम् ।
युज्यते परमीशस्याऽनुग्रहस्तन्त्रनीतितः ।।७।।

ईश्वर की आज्ञा को पालन स्वरूप प्रवृत्ति ईश्वर प्रभाव लब्ध होने से उसकी अपेक्षा से जैनदर्शन के सिद्धान्त अनुसार ईशानुग्रह संगत हो सकता है।

एवं च प्रणवेनैतज्जपात् प्रत्युहसङ्क्षयः ।
प्रत्यक्चैतन्यलाभश्चेत्युक्तं युक्तं पतञ्जलेः ।।८।।

इस प्रकार प्रणव के द्वारा ईश्वर का जाप करने से विघ्ननाश होता है और प्रत्यक् चैतन्य का लाभ होता है । इस तरह पंतजलि के द्वारा कहा हुआ युक्ति संगत सिद्ध होता है ।

प्रत्युहा व्याधयः स्थानं प्रमादाऽऽलस्य-विम्भ्रमाः ।
सन्देहाऽविरती भूम्यलाभश्चाप्यनवस्थितिः ।।९।।

व्याधियां, स्थान, प्रमाद, आलस, विभ्रम, संदेह, अविरति, भूमि अलाभ और अनवस्थान- ये नौ प्रकार के प्रत्यूह विघ्न हैं ।

धातुवैषम्यजो व्याधिः स्त्यानं चाऽकर्मनिष्ठता ।
प्रमादोऽयत्न आलस्यमौदासीन्यं च हेतुषु ।।१०।।

धातु की विषमता से उत्पन्न हो वह व्याधि कही जाती हैं । स्त्यान यानि अकर्मनिष्ठता, प्रमाद का अर्थ है अयत्न और आलस यानि साधन के प्रति उदासीनता ।

विभ्रमो व्यत्ययज्ञानं सन्देहः स्यान्न वेत्ययम् ।
अखेदो विषयाऽऽवेशाद् भवेदविरतिः किल ।।११।।

विभ्रम विपरीत ज्ञान को कहते हैं- 'यह है के नहीं' यह संदेह कहा जाता है । विषय के आवेश से पीछे नहीं हटना वह अविरती हैं ।

भूम्यलाभः समाधीनां भुवोऽप्राप्तिः कथञ्चन ।
लाभेऽपि तत्र चित्तस्याऽप्रतिष्ठा त्वनवस्थितिः ।।१२।।

किसी भी प्रकार से समाधि की प्राप्ति न होना भूमि अलाभ कहा जाता

है । समाधि भूमि का लाभ होने पर भी उसमें चित्त नहीं लगे वह अनवस्थान कहा जाता है ।

रजस्तमोमयाद्दोषाद्विक्षेपाश्चेतसो ह्यमी ।
सोपक्रमा जपान्नाशं यान्ति शक्तिहतिं परे ।।१३।।

ये व्याधि आदि रजोमय-तमोमय दोष से चित्त के विक्षेप हैं । जप से सोपक्रम चित्तविक्षेप (दोष स्वरूप विघ्न) का नाश होता हैं । निरुपक्रम विघ्नों की अनुबंध शक्ति भंग होती हैं ।

प्रत्यक्चैतन्यमप्यस्मादन्तर्ज्योतिः प्रथामयम् ।
बहिर्व्यापाररोधेन जायमानं मतं हि नः ।।१४।।

जाप से बाह्य व्यापार के प्रतिरोध द्वारा उत्पन्न होता अन्तर्ज्योति प्रसारमय उत्पन्न होता प्रत्यक् चैतन्य हमको (जैनो को) मान्य हैं ।

योगाऽतिशयतश्चाऽयं स्तोत्रकोटिगुणः स्मृतः ।
योगदृष्ट्या बुधैर्दृष्टो ध्यानविश्रामभूमिका ।।१५।।

योग के अतिशय से यह जाप, स्तोत्र की अपेक्षा करोड़ो गुण अधिक बलवान है, ऐसा शास्त्र में कहा गया है । पंडितो ने योगदृष्टि से जाप को ध्यान की विश्राम भूमिका के रूप में देखा हैं ।

माध्यस्थ्यमवलम्बयैव देवताऽतिशयस्य च ।
सेवा सर्वैर्बुधैरिष्टा कालातीतोऽपि यज्जगौ ।।१६।।

माध्यस्थ्य का अवलंबन करके ही विशिष्ट देव की सेवा सभी पंडितों के द्वारा मान्य है । क्योंकि कालातीत भी कहते हैं कि, (जो कहते हैं वह आगे के श्लोक में हैं ।)

अन्येषामप्ययं मार्गो मुक्ताऽविद्यादिवादिनाम् ।
अभिधानादिभेदेऽपि तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ।।१७।।

दूसरों को अर्थात् मुक्तादिवादी और अविद्यावादी के मत में नाम आदि भिन्न होने पर भी एक रूप में ही वह मार्ग प्रतिष्ठित हैं ।

मुक्तो बुद्धोऽर्हन्वाऽपि यदैश्वर्येण समन्वितः ।
तदीश्वरः स एव स्यात्संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ।।१८।।

मुक्त, बुद्ध अथवा अरिहंत कोई भी हो वे ऐश्वर्य से युक्त होने से ईश्वर ही हैं । मात्र उनमें नाम भेद ही है अर्थ भेद नहीं ।

अनादिशुद्ध इत्यादिर्यो भेदो यस्य कल्प्यते ।
तत्तत्तन्त्राऽनुसारेण मन्थे सोऽपि निरर्थकः ।।१९।।

ईश्वर अनादि शुद्ध है इत्यादि रूप में जो विशेष गुणधर्म की कल्पना उन-उन दर्शनों के अनुसार करने में आती है वे भी निरर्थक हैं । इस प्रकार मैं (कालातीत) मानता हूँ ।

विशेषस्यापरिज्ञानाद्युक्तीनां जातिवादतः ।
प्रायो विरोधतश्चैव फलाभेदाच्च भावतः ।।२०।।

विशेष का ज्ञान न होने से, युक्तियों में जातिवाद होने से, प्रायः विरोध होने से तथा परमार्थ से फलभेद न होने से उपरोक्त भेदभाव निरर्थक हैं ।

अविद्या-क्लेश-कर्मादि यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ।।२१।।

अविद्या, क्लेश, कर्म आदि पदार्थ जिस कारण से संसार का कारण हैं, उस कारण से वे प्रधान (प्रकृतितत्त्व) ही है मात्र वे नाम भेद को प्राप्त हैं ।

अस्याऽपि योऽपरो भेदश्चित्रोपाधिस्तथा तथा ।
गीयतेऽतीतहेतुभ्यो धीमतां सोऽप्यपार्थकः ।।२२।।

प्रधान (प्रकृति तत्त्व) में अनेक प्रकार की अन्यविध विशेषता रूप भेद उन-उन दर्शनों में बताए गए हैं । वे भी पूर्व बताए गए हेतुओं के द्वारा बुद्धिमानो के लिए निरर्थक हैं ।

ततोऽस्थानप्रयासोऽयं यत्तद्भेदनिरुपणम् ।
सामान्यमनुमानस्य यतश्च विषयो मतः ।।२३।।

उस कारण से देवादिगत विशेष भेदभाव का निरुपण करना वह निरर्थक प्रयास है । क्योंकि अनुमान का विषय सामान्य है- ऐसा माना गया है ।

आस्थितं चैतदाचार्यैस्त्याज्ये कुचितिकाग्रहे ।
शास्त्राऽनुसारिणस्तर्कान्नामभेदाऽनुपग्रहात् ।।२४।।

कदाग्रह का आवेश त्याग करना हो उस अवसर पर उपरोक्त कालातीत

मत श्रीहरिभद्रसूरि ने मान्य किया है । क्योंकि शास्त्रानुसारी तर्क से पदार्थ सिद्धि होने में नाम भेद का आग्रह छूट जाता है ।

अस्थानं रूपमन्धस्य यथा सान्निश्चयं प्रति ।
तथैवाऽतीन्द्रियं वस्तु छद्मस्थस्याऽपि तत्त्वतः ।।२५।।

जिस प्रकार सत्य का निश्चय करने के लिए रूप अंध व्यक्तियों का विषय नहीं बन सकता है; वैसे ही अतीन्द्रिय पदार्थ भी छद्मस्थ जीव के परमार्थ से विषय नहीं बन सकते हैं।

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं तत एव कथञ्चन ।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्यात्तथा चन्द्रोपरागवत् ।।२६।।

शास्त्र हस्तस्पर्श के समान है । उससे ही छद्मस्थ जीव को किसी प्रकार अतीन्द्रिय पदार्थ का भी निश्चय चंद्रग्रहण के समान हो सकता है ।

इत्थं ह्यस्पष्टता शाब्दे प्रोक्ता तत्र विचारणम् ।
माध्यस्थ्यनीतितो युक्तं व्यासोऽपि यददो जगौ ।।२७।।

इस प्रकार शास्त्रबोध में अस्पष्टता कही गई है । इसलिए अस्पष्ट बोध में माध्यस्थ चिंतन करना, यह भी युक्तिसंगत है । क्योंकि व्यासजी ने भी कहा है कि- (क्या कहा वह आगे के श्लोक में हैं ।)

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।।२८।।

आर्षवचन और धर्मोपदेश का वेदशास्त्र के अविरोधी ऐसे तर्क द्वारा जो अनुसंधान करता है वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं ।

शास्त्रादौ चरणं सम्यक् स्याद्वादन्यायसंगतम् ।
ईशस्याऽनुग्रहस्तस्माद् दृष्टेष्टाऽर्थाऽविरोधिनः ।।२९।।

दृष्ट और इष्ट अर्थ का विरोध न करे ऐसे शास्त्र के आधार पर सम्यक् स्याद्वाद् न्याय से संगत ऐसा आचरण करना वही ईश्वरानुग्रह है ।

यद्दातव्यं जिनैः सर्वैर्दत्तमेव तदेकता ।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयो मोक्षपथः सताम् ।।३०।।

जो देने योग्य वस्तु है वह सभी जिनेश्वर भगवन्तो के द्वारा सज्जनों को

एक साथ दे दी गई हैं । वह देने याग्य वस्तु है दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मोक्ष मार्ग ।

जिनेभ्यो याचमानोऽन्यं लब्धं धर्ममपालयन् ।
तं विह्वलो विना भाग्यं केन मूल्येन लप्स्यसे ।।३१।।

भविष्य में धर्म की प्राप्ति हो ऐसी जिनेश्वर भगवन्तो को प्रार्थना करता है और प्राप्त धर्म का आचरण नहीं करनेवाला ऐसा हे विह्वल मानव ! भाग्य के बिना तु किस मूल्य पर भविष्यकालिन धर्म को प्राप्त करेगा ।

अनुष्ठानं ततः स्वामिगुणरागपुरः सरम् ।
परमानन्दतः कार्यं मन्यमानैरनुग्रहम् ।।३२।।

उपरोक्त कारण से भगवान का अनुग्रह माननेवाले साधको को प्रभु के गुणों के रागपूर्वक परमानन्द से साधना करनी चाहिए ।

दैव-पुरुषकार द्वात्रिंशिका-१७

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यौ द्वावपि तत्त्वतः ।
निश्चय-व्यवहाराभ्यामत्र कुर्मो विचारणाम् ।।१।।

तत्त्वतः भाग्य और पुरुषार्थ समान बलवाले हैं। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में निश्चय और व्यवहार नय से विचारणा करते हैं ।

दैवं पुरुषकारश्च स्वकर्मोद्यमसंज्ञकौ ।
निश्चयेनाऽनयोः सिद्धिरन्योऽन्यनिरपेक्षयोः ।।२।।

स्वकर्म के नाम से भाग्य और उद्यम के नाम से पुरुषार्थ पहचाना जाता हैं । निश्चय नय से इन दोनों की निरपेक्ष रूप से सिद्धि होती है ।

सापेक्षमसमर्थं हीत्यतो यद् व्यापृतं यदा ।
तदा तदेव हेतुः स्यादन्यत्सदपि नाऽऽदृतम् ।।३।।

जो सापेक्ष होता है वह निश्चित ही असमर्थ होता है । इसलिए जो जब प्रवृत्ति करता है वही तब कारण बन सकता है । इसलिए अन्य सभी उपस्थित होने पर भी कारण के रूप में स्वीकार करने में नहीं आते हैं ।

विशिष्य कार्यहेतुत्वं द्वयोरित्यनपेक्षयोः ।
अवर्ज्यसन्निधि त्वन्यदन्यथासिद्धिमश्नुते ।।४।।

इस प्रकार निरपेक्ष पुरुषार्थ और भाग्य, विशेष रूप से कार्य का हेतु हैं । हेतु के साथ जिनका सानिध्य दूर नहीं किया जा सके वे अन्यथासिद्धि को प्राप्त करते हैं ।

अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां व्यवहारस्तु मन्यते ।
द्वयोः सर्वत्र हेतुत्वं गौण मुख्यत्वशालिनोः ।।५।।

व्यवहार नय तो अन्वय-व्यातिरेक द्वारा सर्वत्र दोनों (भाग्य-पुरुषार्थ) को हेतु मानता है; हा, उसमें मुख्य और गौण भाव हो सकता है ।

अनुत्कटत्वं गौणत्वमुत्कटत्वं च मुख्यता ।
द्वयं प्रत्येकजन्यत्वव्यपदेशनियामकम् ।।६।।

गौणत्व=अनुत्कटता और मुख्यत्व=उत्कटता । इन दोनों के प्रत्येक जन्यता का (भाग्य मुख्य होने पर भाग्य का पुरुषार्थ मुख्य होने पर पुरुषार्थ

का) व्यवहार होता है ।

उत्कटेन हि दैवेन कृतं दैवकृतं विदुः ।
तादृशेन च यत्येन कृतं यत्नकृतं जनाः ।।७।।

उत्कट (मुख्य रूप से) भाग्य के द्वारा किये गये कार्य को लोग भाग्यकृत जानते हैं । उसी प्रकार मुख्य रूप से प्रयत्न के द्वारा किये जानेवाले कार्य को प्रयत्न कृत जानते हैं ।

अभिमानवशाद्वाऽयं भ्रमो विध्यादिगोचरः ।
निविष्टबुद्धिरेकत्र नाऽन्यद्विषयमिच्छति ।।८।।

अभिमान से किया गया विधि-निषेध विषयक व्यवहार भ्रम रूप है । क्योंकि जिसकी बुद्धि एक विषय से रंजित है; उसको अन्य विषयक व्यवहार इच्छित नहीं है ।

यदीष्यते पराऽपेक्षा स्वोत्पत्ति-परिणामयोः ।
तर्हि कार्येऽपि सा युक्ता न युक्तं दृष्टबाधनम् ।।९।।

यदि स्वयं की उत्पत्ति और परिणाम में पर की अपेक्षा मान्य हो तो कार्य में भी पर की अपेक्षा युक्तिसंगत है । प्रत्यक्ष का बाध करना योग्य नहीं है।

विशिष्य कार्यहेतुत्वं कार्यभेदे भवेदपि ।
अन्यथा त्वन्यथासिद्धिरन्यत्राऽतिप्रसङ्गकृत् ।।१०।।

कार्य भेद सिद्ध हो तो विशेष रूप से कार्य हेतुत्व हो सकता है । कार्य भेद न होने पर भी अन्यथासिद्ध कहा जाने पर तो अन्यत्र अतिप्रसंग आएगा।

क्वचित्कर्मेव यत्नोऽपि व्यापारबहुलः क्वचित् ।
अन्ततः प्राग्भवीयोऽपि द्वावित्यन्योऽन्यसंश्रयौ ।।११।।

किसी कार्य में भाग्य के समान पुरुषार्थ भी कभी व्यापार बहुल होकर कारण होता है । अन्ततः पूर्वभव का पुरुषार्थ भी काम करेगा । इस प्रकार भाग्य और पुरुषार्थ एक दूसरे के सापेक्ष हैं ।

कर्मेव ब्रुवते केचित् कालभेदात् फलप्रदम् ।
तन्नैहिकं यतो यत्नः कर्म तत्पौर्वदेहिकम् ।।१२।।

कितने ही लोग कालभेद से कर्म को ही फलदायक मानते हैं । परंतु

वह ठीक नहीं हैं; क्योंकि इस भव का पुरुषार्थ यत्न कहलाता है और पूर्वभव का पुरुषार्थ कर्म कहलाता हैं ।

भवान्तरीयं तत्कार्यं कुरुते नैहिकं विना ।
द्वारत्वेन च गौणत्वमुभयत्र न दुर्वचनम् ।।१३।।

पूर्वभव का कर्म इस भव के प्रयत्न बिना कार्य नहीं कर सकता है । द्वार के रूप में कर्म में गौणता कही जाय तो वह पुरुषार्थ में भी कहना मुश्किल नहीं हैं ।

अपेक्ष्ये कालभेदे च हेत्वैक्यं परिशिष्यते ।
दृष्टहानिरदृष्टस्य कल्पनं चाऽतिबाधकम् ।।१४।।

कालभेद की अपेक्षा रखने पर तो एक (कर्म) ही हेतु शेष रहेगा । इस प्रकार दृष्टहानि और अदृष्टकल्पना अतिबाधक होंगे ।

दृष्टेनैवोपपत्तौ च नाऽदृष्टमिति केचन ।
फले विशेषात्तदसत्तुल्यसाधनयोर्द्वयोः ।।१५।।

दृष्ट कारण से ही कार्य की संगति हो जाने से अदृष्ट कर्म कारण नहीं; इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं । किंतु वह ठीक नहीं है । क्योंकि दो व्यक्ति के पास बाह्य सामग्री समान होने पर भी फल में भेद देखा जाता है ।

न चाडलं क्षणिकं कर्म फलायाऽदृष्टमन्तरा ।
वैयर्थ्यं च प्रसज्येत प्रायश्चित्तविधेरपि ।।१६।।

क्षणिक क्रिया भी कर्म के बिना फल देने में समर्थ नहीं हैं। अतः (कर्म को न माने तो) प्रायश्चित विधि भी व्यर्थ होगी ।

विशेषश्चात्र बलवदेकमन्यन्निहन्ति यत् ।
व्यभिचारश्च नाप्येवमपेक्ष्य प्रतियोगिनम् ।।१७।।

यहाँ विशेषता यह है कि, बलवान् भाग्य अथवा पुरुषार्थ कमजोर पुरुषार्थ अथवा भाग्य का हनन करता हैं । इस प्रकार मानने में प्रतियोगी की अपेक्षा से व्यभिचार नहीं आता है ।

कर्मणा कर्ममात्रस्य नोपघातादि तत्त्वतः ।
स्वव्यापारगतत्वे तु तस्यैतदपि युज्यते ।।१८।।

कर्म के द्वारा केवल कर्म का उपघात तत्त्वतः संभव नहीं है । जीव के पुरुषार्थ के साथ कर्म जुड़े तो कर्म में उपघात आदि युक्ति संगत हो सकता है ।

उभयोस्तत्स्वभावत्वे तत्तत्कालाद्यपेक्षया ।
बाध्यबाधकभावः स्यात्सम्यग्न्यायाऽविरोधतः ।।१९।।

भाग्य और पुरुषार्थ दोनों का बाध्यबाधक स्वभाव हो तो उस-उस काल आदि की अपेक्षा से बाध्यबाधक स्वभाव सम्यग्युक्ति का विरोध न आए तो उस प्रकार संगत हो सकता है ।

प्रतिमायोग्यतातुल्यं कर्मानियतभावकम् ।
बाध्यमाहुः प्रयत्नेन सैव प्रतिमयेत्यपि ।।२०।।

(काष्ठ में) प्रतिमा योग्यता के समान कर्म अनियत स्वभाववाले हैं । वे प्रयत्न द्वारा बाध्य होते हैं । प्रतिमा-योग्यता जिस प्रकार प्रतिमा के बाध्य होती होता है वैसे ही यह बात समझना चाहिए। ऐसा बुद्धिजीवियों ने कहा हैं ।

प्रतिमायोग्यतानाशः प्रतिमोत्पत्तितो भवेत् ।
कर्मणो विक्रिया यत्नाद् बाध्यबाधकतेत्यसौ ।।२१।।

प्रतिमा की उत्पत्ति से प्रतिमा योग्यता का नाश हो जाता हैं । प्रयत्न से कर्म में विक्रिया (विकार) होती हैं । इस प्रकार बाध्य-बाधक यहाँ समझना चाहिए ।

प्रतिमाया अनियमेऽप्यक्षता योग्यता यथा ।
फलस्या नियमेऽप्येवमक्षता कर्मयोग्यता ।।२२।।

जिस प्रकार प्रत्येक लकड़ी में प्रतिमा उत्पन्न होती ही है; ऐसा कोई नियम न होने पर भी उसमें प्रतिमा योग्यता सदैव रही हुई है । उसी प्रत्येक कर्म द्वारा फल उत्पन्न होता ही है ऐसा कोई नियम न होने परभी कर्म में फल जनन योग्यता सदैव रही हुई है ।

दार्वादेः प्रतिमाऽऽक्षेपे तद्भावः सर्वतो ध्रुवः ।
योग्यस्याऽयोग्यता वेति न चैषा लोकसिद्धितः ।।२३।।

लकड़ी आदि के द्वारा ही प्रतिमा की उत्पत्ति मानने पर तो समस्त लकड़ी आदि से अवश्य प्रतिमा उत्पन्न होगी अथवा योग्यतावाली लकड़ी आदि में

अयोग्यता माननी पड़ेगी यह लोकप्रसिद्ध से नहीं जानना ।

कर्मणोऽप्येतदाक्षेपे दानादौ भावभेदतः ।
फलभेदः कथं नु स्यात्तथाशास्त्रादिसङ्गतः ।।२४।।

यदि कर्म से ही प्रयत्न की उत्पत्ति होती हो तो दान आदि भाव बदल जाने से शास्त्रादिप्रसिद्ध फलभेद किस प्रकार संगत हो सकता हे ?

शुभात्ततस्त्वसौ भावो हन्ताऽयं तत्स्वभावभाक् ।
एवं किमत्र सिद्धं स्यादत एवाऽस्तवतो ह्यदः ।।२५।।

शुभकर्म होने के कारण यह भेदभाववाला भाव होता है, तथा उस स्वभाववाला फलभेद होता है । इससे यहाँ क्या सिद्ध हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, कर्म से भाव होते हैं और भाव से कर्म होते हैं ।

इत्थं परस्परापेक्षावपि द्वौ बाध्यबाधकौ ।
प्रायोऽत्र चरमावर्ते दैवं यत्नेन बाध्यते ।।२६।।

इस प्रकार बाध्य और बाधक ऐसे भाग्य और पुरुषार्थ दोनों परस्पर सापेक्ष होने पर भी प्रायः चरमावर्त में कर्म प्रयत्न द्वारा बाधित होते हैं।

एवं च ग्रन्थिभेदोऽपि यत्नेनैव बलीयसा ।
औचित्येन प्रवृत्तिः स्यादूर्ध्वं तस्यैव चोदनात् ।।२७।।

और इस प्रकार बलवान पुरुषार्थ द्वारा ही ग्रन्थिभेद होता है । ग्रन्थि भेद के पश्चात् औचित्यपूर्वक ही प्रवृत्ति होती है । क्योंकि तब सत्पुरुषार्थ की प्रेरणा स्वतः होती हैं ।

उपदेशस्त्वनेकान्तो हेतुस्त्वोपयुज्यते ।
गुणमारभमाणस्य पततो वा स्थितस्य न ।।२८।।

समकिती को उचित प्रवृत्ति में उपदेश तो अनियत हेतु रूप उपयोगी बनता है । नये गुणस्थान को प्रास करनेवाला अथवा पतित होनेवाले समकिती को उपदेश उपयोगी है । परंतु स्थिर भाववाले समकिती को उपदेश की जरुरत नहीं है ।

आधिक्य-स्थैर्यसिद्ध्यर्थं चक्रभ्रामकदण्डवत् ।
असौ व्यञ्जकताप्यस्य तद्बलोपनतिक्रिया ।।२९।।

अधिकता और स्थिरता की सिद्धि के लिए चक्रभ्रामक दण्ड के समान उपदेश समकिती को उपयोगी बनता है । उपदेश में रही हुई व्यंजकता भी परिणाम के बल से सन्निधान होने रूप हैं ।

औचित्येन प्रवृत्त्या च सुदृष्टिर्यत्नतोऽधिकात् ।
पल्योपमपृथक्त्वस्य चारित्रं लभते व्ययात् ।।३०।।

सम्यग्दृष्टि आत्मा अधिक प्रयत्न से उचित प्रवृत्ति के द्वारा पल्योपम पृथक्त्व प्रमाण कर्म स्थिति का व्यय होने से देशचारित्र प्राप्त करता है ।

मार्गानुसारिता श्रद्धा प्राज्ञप्रज्ञापनारतिः ।
गुणरागश्च लिङ्गानि शक्यारम्भोऽपि चाऽस्य हि ।।३१।।

मार्गानुसारिता, श्रद्धा, प्राज्ञ के उपदेश में रति गुणानुराग यथाशक्ति प्रवृत्ति ये चारित्र के लक्षण हैं ।

योगप्रवृत्तिरत्र स्यात्परमानन्दसङ्गता ।
देशसर्वविभेदेन चित्रे सर्वज्ञभाषिते ।।३२।।

सर्वज्ञ भाषित देश और सर्व के भेद से विभिन्न चारित्र के द्वारा योग की प्रवृत्ति परमानन्द से संगत होती हैं ।

योगभेद द्वात्रिंशिका - १८

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसङ्क्षयः ।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तो योगमार्गविशारदैः ।।१।।

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय ये पांच प्रकार के योग, योग विशारदौ के द्वारा कहे गये हैं ।

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिभावसंयुक्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ।।२।।

औचित्य से युक्त जीव का जिनवचन के अनुसार किया गया तत्त्वचिंतन जो मैत्री आदि भावों से युक्त हो उसे अध्यात्मवेत्ताओं ने अध्यात्म कहा हैं ।

सुखचिन्ता मता मैत्री सा क्रमेण चतुर्विधा ।
उपकारि-स्वकीय-स्वप्रतिपन्नाऽखिलाऽऽश्रया ।।३।।

दूसरों के सुख की इच्छा यह मैत्री कही गई हैं। वह चार प्रकार की है- (१) उपकारी, (२) स्वजन, (३) स्वाश्रित, तथा (४) सर्व जीवों के प्रति मैत्री जानना ।

करुणा दुखहानेच्छा मोहाद् दुःखितदर्शनात् ।
संवेगाच्च स्वभावाच्च प्रीतिमत्स्वपरेषु च ।।४।।

दूसरों के दुःख को दूर करने की इच्छा करुणा हैं । (१) मोह से, (२) दुःखी जीवों को देखने से, (३) सुखी जीवों के ऊपर संवेग से तथा (४) दूसरे समस्त जीवों के उपर स्वभाव से करुणा प्रवर्तति है ।

आपातरम्ये सद्धेतावनुबन्धयुते परे ।
सन्तुष्टिर्मुदिता नाम सर्वेषां प्राणिनां सुखे ।।५।।

मुदिता अर्थात् आनन्द, सन्तुष्टि । वह (१) आपातरम्य सुख में, (२) सत्हेतु युक्त सुख में, (३) सानुबंध सुख में और (४) सर्व जीवों के प्रकृष्ट सुख में सन्तुष्टि अर्थात् मुदिता भावना है ।

करुणातोऽनुबन्धाच्च निर्वेदात्तत्त्वचिन्तनात् ।
उपेक्षा ह्यहितेऽकाले सुखेऽसारे च सर्वतः ।।६।।

करुणा से, अनुबन्ध से, निर्वेद से और तत्त्वचिंतन से क्रमशः अहित

में, अनवसर पर, असारसुख में सर्वत्र उपेक्षा करनी वह माध्यस्थ भावना जाननी।

सुखीर्ष्यां दुःखितोपेक्षां पुण्यद्वेषमधर्मिषु ।
राग-द्वेषौ त्यजन्नेता लब्ध्वाध्यात्मं समाश्रयेत् ।।७।।

सुख की इर्ष्या, दुःख की उपेक्षा, पुण्य पर द्वेष और पापी पर राग-द्वेष का त्याग करनेवाला साधक मैत्री आदि भावनाओं को प्राप्त कर अध्यात्म का आश्रय करता है ।

अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम् ।
तथाऽनुभवसंसिद्धममृतं ह्याद एव नु ।।८।।

अध्यात्म से पाप का क्षय, सत्त्व, शील और शाश्वत ज्ञान प्राप्त होता है तथा अध्यात्म ही अनुभव से सिद्ध अमृत है ।

अभ्यासो वृद्धिमानस्य भावना बुद्धिसङ्गतः ।
निवृत्तिरशुभाभ्यासाद् भाववृद्धिश्च तत्फलम् ।।९।।

अध्यात्म का बुद्धिसंगत वृद्धिमान् अभ्यास भावना कहलाती है । उसका फल अशुभ अभ्यास से निवृत्ति और भाव वृद्धि है ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपो-वैराग्यभेदतः ।
इष्यते पञ्चधा चेयं दृढसंस्कारकारणम् ।।१०।।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वैराग्य इन भेदों से भावना पांच प्रकार की मानी गई है । वह दृढ़ संस्कार का कारण है ।

उपयोगे विजातीयप्रत्ययाऽव्यवधानभाक् ।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं सूक्ष्माऽऽभोगसमन्वितम् ।।११।।

उपयोग में विजातीय प्रत्यय का व्यवधान न पड़े एसा प्रशस्त एक विषयक बोध ध्यान कहा जाता है । वह सूक्ष्म उपयोग युक्त होता है ।

खेदोद्वेगभ्रमोत्थानक्षेपाऽऽसङ्गाऽन्यमुद्जाम् ।
त्यागादष्टपृथक्चित्तदोषाणामनुबन्ध्यदः ।।१२।।

खेद, उद्वेग, भ्रम, उत्थान, क्षेप, आसंग, अन्यमुद्, रोग ये आठ अयोगिचित्तगत दोष के त्याग से ध्यान अनुबंधवाला बनता है ।

प्रवृत्तिजः क्लमः खेदस्तत्र दाढ्र्यं न चेतसः ।
मुख्यः हेतुरदश्चाऽत्र कृषिकर्मणि वारिवत् ।।१३।।

प्रवृत्ति जन्य क्लम खेद कहलाता है । वह हो तब चित्त में दृढ़ता नहीं होती है । वह दृढ़ता ही यहाँ मुख्य हेतु है । जैसे की खेती में पानी की मुख्यता होती है ।

स्थितस्यैव स उद्वेगो योगद्वेषात्ततः क्रिया ।
राजविष्टिसमा जन्म बाधते योगिनां कुले ।।१४।।

प्रवृत्ति शुरु किये बिना ही क्लम हो उसको उद्वेग कहते हैं । इसलिए योग द्वेष से क्रिया राजा के वेठ के समान हैं । वैसी क्रिया भवांतर में योगी के कुल में जन्म बाधक होती है ।

भ्रमोऽन्तर्विप्लवस्तत्र न कृताऽकृतवासना ।
तां विना योगकरणं प्रस्तुताऽर्थविरोधकृत ।।१५।।

भ्रम अर्थात् आंतरिक विपर्यय । वह हो तब "यह मैंने किया अथवा नहीं" वैसे संस्कार नहीं होते । वैसे संस्कार बिना की जानेवाली योग की प्रवृत्ति योग की सिद्धि का विरोध करनेवाली है ।

प्रशान्तवहिताऽभाव उत्थानं करणं ततः ।
त्यागाऽनुरूपमत्यागं निर्वेदादतथोदयम् ।।१६।।

प्रशान्तवाहिता का अभाव अर्थात् उत्थान कहा जाता है । उससे योग साधना करना अर्थात् वह प्रवृत्ति त्याग योग्य न होने पर त्याग अनुरूप बनती है । निर्वेद से उस प्रकार का फलोदय उससे नहीं होता है ।

क्षेपोन्तराऽन्तराऽन्यत्र चित्तन्यासोऽफलावहः ।
शालेरपि फलं नो यद्दृष्टमुत्खननेऽसकृत ।।१७।।

बीच-बीच में दूसरी ओर मन जाए तो क्षेप दोष जानना चाहिए। वह फलजनक नहीं बनता हैं । निश्चित ही शाल को बार-बार उखेड़ने से उसका भी फल दिखाई नहीं देता है ।

आसङ्गः स्यादभिष्वङ्गस्तत्राऽसङ्गक्रियैव न ।
ततोऽयं हन्त तन्मात्रगुणस्थाने स्थितिप्रदः ।।१८।।

आसंग दोष (यही अनुष्ठान सुंदर है इस प्रकार की आसक्ति) के होने पर असंग क्रिया नहीं होती है । इसलिए खेद की बात है यह दोष मात्र उसी अधिकृत गुणस्थान पर स्थिति प्रदान करता है ।

विहितेऽविहिते वाऽर्थेऽन्यत्र मुव्प्रकृतात्किल ।
इष्टेऽर्थेऽङ्गारवृष्ट्याभाऽत्यनादरविधानतः ।।१९।।

(प्रस्तुत आराधना छोड़कर) विहित अथवा अविहित पदार्थ में प्रीति करना वह अन्यमुद् दोष जानना चाहिए । अत्यन्त अनादर से आराधना करने से वह इष्ट पदार्थ में अंगारे की वृष्टि के समान है ।

रुजि सम्यगनुष्ठानोछेदाद्वन्ध्यफलं हि तत् ।
एतान् दोषान् विना ध्यानं शान्तोदात्तस्य तद्धितम् ।।२०।।

रोग दोष होने पर सम्यग्अनुष्ठान का उच्छेद होने से क्रिया अवन्ध्य फलवाली बनती हैं । इसलिए इन दोषों के बिना होता शांत उदात्त योगी का ध्यान हितकारी बनता है ।

वशिता चैव सर्वत्र भावस्तैमित्यमेव च ।
अनुबन्धव्यवच्छेदश्चेति ध्यानफलं विदुः ।।२१।।

सर्वत्र वशिता, भाव की स्थिरता और अनुबंध का विच्छेद ध्यान का फल है ऐसा इसके जानकार मानते हैं ।

व्यवहारकुदृष्ट्योच्चैरिष्टाऽनिष्टेषु वस्तुषु ।
कल्पितेषु विवेकेन तत्त्वधीः समतोच्यते ।।२२।।

व्यवहार की कुदृष्टि से कल्पित इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं में विवेकदृष्टि से तुल्य बुद्धि प्राप्त करना वह समता कहलाती है ।

विनैतया न हि ध्यानं ध्यानेनेयं विना च न ।
अतः प्रवृत्तचक्रं स्याद् द्वयमन्योऽन्य कारणात् ।।२३।।

समता के बिना ध्यान नहीं और ध्यान के बिना समता नहीं । अतः दोनों एक-दूसरें का कारण होने से परम्परा निरन्तर चलती रहती हैं ।

ऋदध्यप्रवर्त्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा ।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते ।।२४।।

लब्धियों का उपयोग नहीं करना, सूक्ष्म कर्म का नाश तथा अपेक्षा स्वरूप बन्धन का उच्छेद करना उनको समता का फल कहा है ।

विकल्पस्पन्दरुपाणां वृत्तीनामन्यजन्मनाम् ।
अपुनर्भावतो रोधः प्रोच्यते वृत्तिसङ्क्षयः ।।२५।।

आत्मभिन्न पदार्थ से उत्पन्न होनेवाले विकल्प तथा परिस्पंद स्वरूप वृत्ति कभी भी नहीं प्रगट हो उस प्रकार से वृत्तियों का त्याग करना वह वृत्तिसंक्षय कहलाता है ।

केवलज्ञानलाभश्च शैलेशीसम्परिग्रहः ।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा फलमस्य प्रकीर्तितम् ।।२६।।

केवलज्ञान का लाभ, शैलेशी दशा का स्वीकार तथा अनाबाध मोक्षप्राप्ति ये वृत्तिसंक्षय के फल कहे गये हैं ।

वृत्तिरोधोऽपि योगश्चेद् भिद्यते पञ्चधाऽप्ययम् ।
मनोवाक्कायवृत्तीनां रोधे व्यापारभेदतः ।।२७।।

वृत्तिनिरोध को भी यदि येग माना जाय तो उसके भी पांच प्रकार होते हैं । क्योंकि मन, वचन, काया की वृत्ति के रोध में व्यापार बदल जाता हैं।

प्रवृत्तिस्थिरताभ्यां हि मनोगुप्तिद्वये किल ।
भेदाश्चत्वार इष्टन्ते तत्राऽन्त्यायां तथाऽन्तिमः ।।२८।।

प्रवृत्ति और स्थिरता द्वारा मनगुप्ति दो प्रकार की है । प्रथम भेद में अध्यात्म आदि चार तथा मन गुप्ति के अंतिम भेद में वृत्तिसंक्षय मान्य है ।

विमुक्तकल्पनाजालं समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ।
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता ।।२९।।

कल्पना समूह से शून्य मन, समत्त्व में अच्छी तरह स्थिर मन, तथा आत्मा में मग्न मन ये मनगुप्ति के तीन प्रकार कहे गये हैं ।

अन्यासामवतारोऽपि यथायोगं विभाव्यताम् ।
यतः समिति-गुप्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः ।।३०।।

अन्य अर्थात् वचनगुप्ति आदि का अन्तर्भाव भी योग में होता है, यथा योग्य विचार करना । क्योंकि समिति-गुप्ति का विस्तार यह उत्तम योग है ।

उपायत्वेऽत्र पूर्वेषामन्त्य एवाऽवशिष्यते ।
तत्पञ्चमगुणस्थानादुपायोऽर्वागिति स्थितिः ।।३१।।

यदि यहाँ पूर्व (अध्यात्म आदि) को उपाय माने तो अंतिम वृत्तिसंक्षय ही योग रूप में शेष रहता हैं । इसलिए पांचवें गुणस्थान से पूर्व पूर्वसेवा रूप उपाय होता है ऐसी शास्त्र की मर्यादा है ।

भगवद्वचनस्थित्या योगः पञ्चविधोऽप्ययम् ।
सर्वोत्तमं फलं दत्ते परमानन्दमञ्जसा ।।३२।।

भगवान के वचन में स्थिर होने से ये पांच प्रकार के योग परमानन्द स्वरूप सर्वोत्तम मोक्ष फल को शीघ्र प्रदान करते हैं ।

योगविवेक द्वात्रिंशिका - १९

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम् ।
गीयते योगशास्त्रज्ञैर्निर्व्याजं यो विधीयते ।।१।।

योगशास्त्रवेत्ताओं द्वारा इच्छा, शास्त्र और सामर्थ्य के आश्रय से यह योग तीन प्रकार के कहे गये हैं । जो कि, दंभ रहित किया जाता है ।

चिकीर्षोः श्रुतशास्त्रस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादिनः ।
कालादिविकलो योग इच्छायोग उदाहृतः ।।२।।

आज्ञा पालन करने की इच्छा हो, शास्त्र सुने हो, ज्ञानी ऐसे प्रमादी का जो योग काल आदि से विकल हो तो वह योग इच्छा योग कहलाता है ।

साङ्गमप्येककं कर्म प्रतिपन्ने प्रमादिनः ।
नत्वेच्छायोगत इति श्रवणादत्र मज्जति ।।३।।

स्वीकृत मुख्य योग को स्वीकार करने पर प्रमाद करनेवाले व्यक्ति का एकाद योग कुछ अविकल हो तो भी उसका इच्छा योग में समावेश होता है।

यथाशक्त्यप्रमत्तस्य तीव्रश्रद्धाऽवबोधतः ।
शास्त्रयोगस्त्वखण्डार्थाऽऽराधनादुपदिश्यते ।।४।।

अप्रमत्त साधक के तीव्र श्रद्धा और बोध होने के कारण शक्ति का गोपन किये बिना अखंड अनुष्ठान की आराधना करने से शास्त्र योग कहलाता है ।

शास्त्रेण दर्शितोपायः फलपर्यवसायिना ।
तदतिक्रान्तविषयः सामर्थ्याख्योऽतिशक्तितः ।।५।।

फलपर्यन्त उपदेश देनेवाले शास्त्र के द्वारा जिसका उपाय बताया है तथा शक्ति की प्रबलता से शास्त्रविषय का भी जो अतिक्रमण करनेवाले हो उस योग का नाम सामर्थ्य योग है ।

शास्त्रादेव न बुध्यन्ते सर्वथा सिद्धिहेतवः ।
अन्यथा श्रवणादेव सर्वज्ञत्वं प्रसज्यते ।।६।।

शास्त्र से ही सिद्धि के सभी हेतुओं का ज्ञान नहीं होता है । अन्यथा तो शास्त्र सुनने मात्र से ही सर्वज्ञपना मानने का प्रसंग आएगा ।

प्रातिभज्ञानगम्यस्तत्सामर्थ्याख्योऽयमिष्यते ।
अरुणोदयकल्पं हि प्राच्यं तत्केवलाऽर्कतः ।।७।।

इसलिए यह सामर्थ्ययोग प्रातिभज्ञानगम्य माना गया है । वह प्रातिभज्ञान निश्चित ही केवलज्ञान रूपी सूर्य के आगमन के पूर्व होनेवाला अरुणोदय के समान है ।

रात्रेर्दिनादपि पृथग्यथा नो वाऽरुणोदयः ।
श्रुताच्च केवलज्ञानात्तथेदमपि भाव्यताम् ।।८।।

जिस प्रकार अरुणोदय रात अथवा दिन से भिन्न नहीं है वैसे ही प्रातिभज्ञान भी श्रुतज्ञान और केवलज्ञान से पृथग् नहीं हैं । ऐसा विचारना चाहिए।

ऋतम्भरादिभिः शब्दैःर्वाच्यमेतत्परैरपि ।
इष्यते गमकत्वं चाऽमुष्य व्यासोऽपि यज्जगौ ।।९।।

यह प्रातिभज्ञान अन्य दार्शनिकों के द्वारा ऋतंभरा आदि शब्दों द्वारा कहा गया है । प्रातिभज्ञान सामर्थ्य योग का ज्ञापक है । क्योंकि व्यास के द्वारा कहा गया हैं । (क्या कहा गया है यह आगे गाथा में बताया गया हैं ।)

आगमेनाऽनुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।।१०।।

आगम से, अनुमान से और ध्याभ्यास के रस से तीन प्रकार से प्रज्ञा को तैयार करता हुआ साधक उत्तम योग को प्रास करता है ।

द्विधाऽयं धर्मसन्यास-योगसंन्याससंज्ञितः ।
क्षायोपशमिका धर्मा योगाः कायादिकर्म तु ।।११।।

धर्मसंन्यास और योगसंन्यास स्वरूप सामर्थ्ययोग दो प्रकार का है । 'धर्म' पद से क्षायोपशमिक धर्म तथा 'योग' पद से काया आदि की क्रिया ग्रहण करना।

द्वितीयाऽपूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इति तद्विदः ।।१२।।

दूसरे अपूर्वकरण के समय प्रथम सामर्थ्ययोग तात्त्विक होता है तथा आयोज्यकरण के पश्चाद् दूसरा सामर्थ्य योग होता हैं । इस प्रकार उनके जानकार कहते हैं ।

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चेति सामान्येन द्विधाऽप्ययम् ।
तात्त्विको वास्तवोऽन्यस्तु तदाभासः प्रकीर्तितः ।।१३।।

सामान्य से तात्त्विक और अतात्त्विक इस तरह योग के दो प्रकार भी हो सकते हैं । तात्त्विक योग को वास्तविक तो अतात्त्विक योग को योगाभास कहा गया है ।

अपुनर्बन्धकस्याऽयं व्यवहारेण तात्त्विकः ।
अध्यात्म-भावनारूपो निश्चयेनोत्तरस्य तु ।।१४।।

अपुर्नबन्धक का अध्यात्य और भावनारूप तात्त्विक योग व्यवहार नय से होता हैं और निश्चय नय से तात्त्विक योग चारित्रधारी को होता हैं ।

सकृदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः ।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः ।।१५।।

मात्र बाह्य वेश आदि के कारण सकृद्बंधक आदि जीवो को अतात्त्विक योग कहा गया है । उसका फल प्रायः अनर्थकारी है ।

शुद्धयपेक्षो यथायोगं चारित्रवत एव च ।
हन्ते ध्यानादिको योगस्तात्त्विकः प्रविजृम्भते ।।१६।।

योग के अनुसार शुद्धि की अपेक्षावाला ध्यान आदि तात्त्विक योग निश्चित चारित्रधर के पास ही विकसित होता है ।

अपायाऽभाव-भावाभ्यां सानुबन्धोऽपरश्च सः ।
निरुपक्रमकर्मैवापायो योगस्य बाधकम् ।।१७।।

अपाय के अभाव से सानुबंध और अपाय की उपस्थिति से योग निरनुबंध होता है । निरुपक्रम कर्म ही अपाय है । वह योग का बाधक है ।

बहुजन्मान्तरकरः सापायस्यैव साश्रवः ।
अनाश्रवस्त्वेकजन्मा तत्त्वाङ्गव्यवहारतः ।।१८।।

अपायवाला जीव का योग साश्रव योग है जो अनेक जन्मों को करनेवाला होता है । निश्चयप्रापक व्यवहार की दृष्टि से अनाश्रव योग एक जन्मवाले को होता है ।

शास्त्रेणाऽधीयते चायं नाऽसिद्धेर्गोत्रयोगिनाम् ।
सिद्धेर्निष्पन्नयोगस्य नोद्देशः पश्यकस्य यत् ।।१९।।

गोत्र योगियों को योग सिद्ध न होने से शास्त्र द्वारा उनके लिए योग नहीं कहा गया हैं । निष्पन्नयोगवाले योगी को योग सिद्ध होने से उनको योग कर्तव्यरूप नहीं कहा जाता हैं । क्योंकि पश्यक को उपदेश लागु नहीं होता हैं ।

कुलप्रवृत्तचक्राणां शास्त्रात्तत्तदुपक्रिया ।
यौगाचार्यैर्विनिर्दिष्टं तल्लक्षणमिदं पुनः ।।२०।।

कुलयोगी और प्रवृत्तचक्र योगी को शास्त्र से वह वह उपकार होता हैं । योगाचार्यो के द्वारा उनका लक्षण इस प्रकार बताया गया है । (आगे बताते हैं ।)

ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये ।
कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नाऽपरे ।।२१।।

जो योगियों के कुल में उत्पन्न हुआ है । तथा योगिधर्म को अनुसरण करनेवाला होता है । वह कुलयोगी कहलाता है । योगी नामवाले मात्र दूसरे जीव कुलयोगी नहीं कहलाते हैं ।

सर्वत्राऽद्वेषिणश्चैते गुरु-देव-द्विजप्रियाः ।
दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो जितेन्द्रियाः ।।२२।।

ये कुलयोगी सर्वत्र द्वेष रहित होते हैं । देव-गुरु और द्विज उनको प्रिय होते हैं तथा वे दयालु विनीत बोधसंपन्न और जितेन्द्रिय होते हैं ।

प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः ।
शेषद्वयाऽर्थिनोऽत्यन्तं शुश्रूषादिगुणाऽन्विताः ।।२३।।

प्रथम दो यम को प्राप्त तथा शेष दो यम को प्राप्त करने की अत्यन्त इच्छावाले योगी प्रवृत्तचक्रयोगी कहलाते हैं । वे शुश्रूषा आदि गुणों से सम्पन्न होते हैं ।

आद्याऽवञ्चकयोगाऽऽप्त्या तदन्यद्वयलाभिनः ।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विदः ।।२४।।

प्रथम अवंचकयोग की प्राप्ति से अन्य दो योग के भावी लाभवाले ये योगी योगप्रयोग के अधिकारी हैं- ऐसा इसके जानकार कहते हैं ।

यमाश्चतुर्विधा इच्छा-प्रवृत्ति-स्थैर्य-सिद्धयः ।
योग-क्रिया-फलाख्यं च स्मर्यतेऽवञ्चकत्रयम् ।।२५।।

इच्छा-प्रवृत्ति-स्थैर्य-सिद्धि- इस तरह चार प्रकार के यम हैं । तथा योग-क्रिया-फल नामवाले तीन अवंचक योग सुने जाते हैं ।

इच्छायमो यमेष्विच्छा युता यद्वत्कथामुदा ।
स प्रवृत्तियमो यत्तत्पालनं शमसंयुतम् ।।२६।।

यमवाले साधकों की कथा में आनन्द से युक्त यम विषयक इच्छा, इच्छा यम है । शमभावपूर्वक जो यम का पालन है वह प्रवृत्तियम है ।

सत्क्षयोपशमोत्कर्षादतिचारादिचिन्तया ।
रहिता यमसेवा तु तृतीयो यम उच्यते ।।२७।।

सत् क्षयोपशम के उत्कर्ष से अतिचार आदि की चिंता से रहित यम प्रवृत्ति स्थिरयम कहलाता है ।

परार्थसाधिका त्वेषा सिद्धिः शुद्धाऽन्तरात्मनः ।
अचिन्त्यशक्तियोगेन चतुर्थो यम उच्यते ।।२८।।

शुद्ध चित्तवाले साधक की जो यम प्रवृत्ति अचिन्त्यशक्ति के योग से परार्थसाधक बनती है तो चौथा सिद्धि यम कहलाता है ।

सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनैः ।
तथादर्शनतो योग आद्याऽवञ्चक उच्यते ।।२९।।

कल्याण संपन्न और दर्शन से पवित्र करनेवाले ऐसे उत्तम पुरुषों का उस प्रकार के दर्शन से योग होना वह प्रथम अवंचकयोग कहलाता है ।

तेषामेव प्रणामादिक्रियानियम इत्यलम् ।
क्रियाऽवञ्चकयोगः स्यान्महापापक्षयोदयः ।।३०।।

उन महापुरुष को प्रणाम आदि करने का नियम लेना वह समर्थ क्रिया अवंचक योग बनता हैं । उससे महापाप का क्षय का उदय होता है ।

फलाऽवञ्चकयोगस्तु सद्भ्य एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाप्तिधर्मसिद्धौ सतां मता ।।३१।।

उन महापुरुषों के पास से ही धर्मविषयक फल की सानुबंध प्राप्ति होना वह फलावंचकयोग रूप सज्जनों को मान्य हैं ।

इत्थं योगविवेकस्य विज्ञानाद्‌वान्तकल्मषः ।
यतमानो यथाशक्ति परमानन्दमश्नुते ।।३२।।

इस प्रकार योग के विवेक की जानकारी से जिनके कर्म क्षीण हुए हैं वैसे साधक यथाशक्ति योगप्रवृत्ति करते हुए परमानन्द पद को प्राप्त करते हैं।

योगावतार द्वात्रिंशिका - २०

सम्प्रज्ञातोऽपरश्चेति द्विधाऽन्यैरयमिष्यते ।
सम्यक् प्रज्ञायते येन सम्प्रज्ञातः स उच्यते ॥१॥

अन्यदार्शनिकों के द्वारा संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात इस प्रकार दो योग मान्य किये गये हैं । जिसके द्वारा अच्छे प्रकार जाने, वह संप्रज्ञात योग कहलाता है ।

वितर्केण विचारेणाऽऽनन्देनाऽस्मितयाऽन्वितः ।
भाव्यस्य भावनाभेदात्सम्प्रज्ञातश्चतुर्विधः ॥२॥

भाव्य की भावना के भेद से संप्रज्ञात योग के चार प्रकार हैं। वे क्रमशः (१) वितर्क, (२) विचार, (३) आनन्द और (४) अस्मिता से युक्त बनता है।

पूर्वापरानुसन्धानाच्छब्दोल्लेखाच्च भावना ।
महाभूतेन्द्रियार्थेषु सवितर्कोऽन्यथाऽपरः ॥३॥

महाभूत और इन्द्रिय स्वरूप विषयों में पूर्वपर के अनुसंधान से और शब्द के उल्लेख से भावना होती है । वह सवितर्क संप्रज्ञात समाधि योग जानना अन्यथा निर्वितर्क संप्रज्ञात योग समझना ।

तन्मात्राऽन्तः करणयोः सूक्ष्मयोर्भावना पुनः ।
दिक्कालधर्मावच्छेदात् सविचारोऽन्यथाऽपरः ॥४॥

- तन्मात्र और अन्तःकरण स्वरूप सूक्ष्म विषय की देश-काल संबंधी गुणधर्म के अवच्छेद से होती भावना सविचार संप्रज्ञात समाधि कहलाती है । अन्यथा निर्विचार समाधि कहलाती है ।

यदा रजस्तमोलेशानुविद्धं भाव्यते मनः ।
तदा भाव्यसुखोद्रेकाच्चिच्छक्तेर्गुणभावतः ॥५॥

जब रजोगुण और तमोगुण के अंश से युक्त मन से भावना करने में आती हैं; तब भाव्य सुख के उद्रेक से और चित्शक्ति के अनुद्रेक से सानंद समाधि होती है ।

सानन्दोऽत्रैव भण्यन्ते विदेहा बद्धवृत्तयः ।
देहाऽहङ्कारविगमात् प्रधानमुपदर्शिनः ॥६॥

सानंद समाधि से बद्धवृत्तिवाले विदेह कहलाते हैं । क्योंकि उनको देह में अहंकार बुद्धि दूर हो चूकी होती हैं । वे प्रधान को देखनेवाले होते हैं ।

सत्त्वं रजस्तमोलेशाऽनाक्रान्तं यत्र भाव्यते ।
स सास्मितोऽत्र चिच्छक्ति-सत्त्वयोर्मुख्य-गौणता ।।७।।

रजोगुण और तमोगुण के अंश से अनाक्रान्तरूप सत्त्वगुण की भावना जब करने में आती है वह अस्मित समाधि कहलाती है । यहाँ चितशक्ति की मुख्यता और सत्त्व की गौणता होती है ।

अत्रैव कृततोषा ये परमात्माऽनवेक्षिणः ।
चित्ते गते ते प्रकृतिलया हि प्रकृतौ लयम् ।।८।।

इस अस्मित समाधि में ही आनन्द करनेवाले और परमात्मा को नहीं देखनेवाले योगि का चित्त प्रकृति में लीन होने पर प्रकृतिलय कहलाता है ।

ग्रहीतृग्रहणग्राह्यसमापत्तित्रयं किल ।
अत्र सास्मित-सानन्द-निर्विचारान्तविश्रमम् ।।९।।

सास्मित सानन्द और निर्विचार समाधि के अन्त में क्रमशः ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य की समापत्ति निश्चित विश्रान्त होती है ।

मणेरिवाऽभिजातस्य क्षीणवृत्तेरसंशयम् ।
तात्थ्यात्तदञ्जनत्वाच्च समापत्तिः प्रकीर्तिता ।।१०।।

निश्चित रूप से जिसका मल नष्ट हो गया हैं; वैसी श्रेष्ठ मणि के समान एकाग्रता और तन्मयता के कारण समापत्ति होती है ।

सङ्कीर्णा सा च शब्दाऽर्थज्ञानैरपि विकल्पतः ।
सवितर्का परैर्भेदैर्भवतीत्थं चतुर्विधा ।।११।।

वह समापत्ति शब्द, अर्थ, ज्ञान और विकल्प से भी संकीर्ण हो तो सवितर्क समापत्ति कहलाती हैं । इस प्रकार अवान्तर भेद से यह समापत्ति चार प्रकार की बनती हैं ।

अध्यात्मं निर्विचारत्ववैशारद्ये प्रसीदति ।
ऋतम्भरा ततः प्रज्ञा श्रुताऽनुमितितोऽधिका ।।१२।।

निर्विचारत्व की निर्मलता होने पर योगी अध्यात्मप्रसाद संपन्न होता हैं।

उससे ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रगट होती है। वह प्रज्ञा श्रुत और अनुमिति की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है।

तज्जन्मा तत्त्वसंस्कारः संस्कारान्तरबाधकः ।
असम्प्रज्ञातनामा स्यात् समाधिस्तन्निरोधतः ।।१३।।

ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ तत्त्वसंस्कार अन्य संस्कारो का बाधक बनता है। उसके प्रतिरोध से असंप्रज्ञात नाम की समाधि प्रगट होती है।

विरामप्रत्ययाऽभ्यासान्नेति नेति निरन्तरात् ।
ततः संस्कारशेषाच्च कैवल्यमुपतिष्ठते ।।१४।।

गाथार्थ : विराम प्रत्यय के अभ्यास से और 'नहि-नहि' इस प्रकार निरन्तर संस्कारशेष से उत्पन्न असंप्रज्ञात समाधि से कैवल्य उपस्थित होता है।

सम्प्रज्ञाोऽवतरति ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वतः ।
तात्त्विकी च समापत्तिर्नात्मनो भाव्यतां विना ।।१५।।

यहाँ संप्रज्ञात योग का परमार्थ से ध्यान में समावेश होता है। तथा तात्त्विक समापत्ति तो आत्मा को भाव्य माने बिना हो ही नहीं सकती हैं।

परमात्मसमापत्तिर्जीवात्मनि हि युज्यते ।
अभेदेन तथाध्यानादन्तरङ्गस्वशक्तितः ।।१६।।

जीवात्मा में ही परमात्म समापत्ति संगत होती है। क्योंकि अभेद भाव से उस रूप ध्यान करने से अंतरंग स्वशक्ति से वह संभव है।

बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः ।
कायाऽधिष्ठायक-ध्येयाः प्रसिद्धा योगवाङ्मये ।।१७।।

योगशास्त्र में कायास्वरूप बाह्यात्मा, अधिष्ठायक स्वरूप अंतरात्मा और ध्येय स्वरूप परमात्मा इस प्रकार तीन आत्मा प्रसिद्ध हैं।

अन्ये मिथ्यात्व-सम्यक्त्व-केवलज्ञानभागिनः ।
मिश्रे च क्षीणमोहे च विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ।।१८।।

अन्य विद्वान कहते हैं कि, मिथ्यात्वी बाह्यात्मा, समकिती अंतरात्मा और केवलज्ञानी परमात्मा है। वे क्रमशः मिश्रगुणस्थान, क्षीणमोह गुणस्थान और अयोगी केवली गुणस्थान पर विश्रान्त होते हैं।

विषयस्य समापत्तिरुत्पत्तिर्भावसंज्ञिनः ।
आत्मनस्तु समापत्तिर्भावो द्रव्यस्य तात्त्विकः ।।१९।।

विषय की समापत्ति भाववाचक नाम की उत्पत्ति कहलाती हैं। आत्मा की समापत्ति तो द्रव्य का तात्त्विक भाव कहलाता है ।

अत एव च योऽर्हन्तं स्वद्रव्य-गुण-पर्ययैः ।
वेदाऽऽत्मानं स एव स्वं वेदेत्युक्तं महर्षिभिः ।।२०।।

इसलिए ही जो स्व द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहन्त को जानता हैं वही स्वयं के आत्मा को जानता हैं; इस प्रकार महर्षियों ने कहा हैं ।

असम्प्रज्ञातनामा तु सम्मतो वृत्तिसङ्क्षयः ।
सर्वतोऽस्मदकरणनियमः पापगोचरः ।।२१।।

असंप्रज्ञात नाम का योग तो वृत्तिसंक्षय रूप मान्य है । इससे सम्पूर्ण रूप से पाप को नहीं करने का नियम सूचित होता है ।

ग्रन्थिभेदे यथाऽयं स्याद् बन्धहेतुं परं प्रति ।
नरकादिगतिष्वेवं ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः ।।२२।।

जैसे उत्कृष्ट बंधहेतु की अपेक्षा से ग्रन्थिभेद के अवसर पर अकरणनियम कहलाता हैं । उसी प्रकार नरकादि गतियों को दूर करने के अवसर पर उसके हेतु संबंधि अकरण नियम समझना चाहिए ।

दुखात्यन्तविमुक्त्यादि नाऽन्यथास्याच्छ्रुतोदितम् ।
हेतुः सिद्धश्च भावोऽस्मिन्नेवं वृत्तिक्षयोचिती ।।२३।।

यदि उपरोक्त नहीं माने तो 'दुःख से अत्यन्त विमुक्ति मिलती है' इत्यादि रूप प्रतिपादित सिद्धान्त संगत नहीं होता है । अकरण नियम में अंतःकरण का भाव हेतु रूप सिद्ध है इस प्रकार वृत्ति क्षय मानना व्याजबी है ।

योगे जिनोक्तऽप्येकस्मिन् दृष्टिभेदः प्रवर्तते ।
क्षयोपशमवैचित्र्यात् समेघाद्योघदृष्टिवत् ।।२४।।

जिनोक्त योग एक होने पर भी क्षयोपशम की विविधता से दृष्टिभेद प्रवर्तता है । जैसे कि समेघ आदि योग दृष्टि में भेद होता है ।

सच्छ्रद्धासङ्गतो बोधो दृष्टिः सा चाष्टधोदिता ।
मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा ।।२५।।

सम्यक्श्रद्धा से युक्त बोध दृष्टि कहलाती हैं, वे आठ प्रकार की हैं- मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा दृष्टि ।

तृण-गोमय-काष्ठाग्निकण-दीपप्रभोपमा ।
रत्न-ताराऽर्क-चन्द्राऽऽभा क्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा ।।२६।।

ये आठ दृष्टि क्रमशः १. तृण अग्नि के कण, २. कंडे की अग्नि के कण, ३. लकड़ी की अग्नि के कण, ४. दीप की प्रभा, ५. रत्न की प्रभा, ६. तारे की प्रभा, ७. सूर्य की प्रभा और ८. चन्द्र की प्रभा के समान होती हैं । ये दृष्टियाँ क्रमशः गन्ने आदि के समान हैं ।

यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारतः ।
अद्वेषादिगुणस्थानां क्रमेणैषा सतां मता ।।२७।।

खेद आदि दोष के परिहारपूर्वक यम आदि के योग से युक्त तथा अद्वेष आदि गुणों से युक्त ऐसे जीवों को ये योगदृष्टियाँ क्रमशः होती हैं । ऐसा सज्जनों को मान्य हैं ।

आद्याश्चतस्रः सापायपाता मिथ्यादृशामिह ।
तत्त्वतो निरपायाश्च भिन्नग्रन्थेस्तथोत्तराः ।।२८।।

यहाँ मिथ्यादृष्टियों को मिलनेवाली प्रथम चार दृष्टि अपाययुक्त और पतनयुक्त हैं तथा पिछली चार दृष्टि भिन्नग्रन्थिवाले जीव को मिलती हैं। जो कि, परमार्थ से निरपाय होती हैं ।

प्रयाणभङ्गाऽभावेन निशि स्वापसमः पुनः ।
विघातो दिव्यभवतश्चरणस्योपजायते ।।२९।।

देव के भव के कारण हुआ चारित्र संबंधी व्याघात रात्री की निद्रा के समान है । क्योंकि उसमें प्रयाण का भंग नहीं होता है ।

तादृश्यौदयिके भावे विलीने योगिनां पुनः ।
जाग्रन्निरन्तरगतिप्राया योगप्रवृत्तयः ।।३०।।

उस प्रकार का औदयिक भाव विलीन होने पर योगियों की पुनः योग

प्रवृत्ति प्रारंभ होती है । जो कि जाग्रत मनुष्य की निरंतर गति के समान होती है ।

मिथ्यात्वे मंदतां प्राप्ते मित्राद्या अपि दृष्टयः ।
मार्गाऽभिमुखभावेन कुर्वते मोक्षयोजनम् ॥३१॥

मिथ्यात्व मंद होने पर मित्रा आदि दृष्टि भी मोक्षमार्ग की अभिमुखता लाने से मोक्ष के साथ संयोग कराती हैं ।

प्रकृत्या भद्रकः शान्तो विनीतो मृदुरुत्तमः ।
सूत्रे मिथ्यादृगप्युक्तः परमानन्दभागतः ॥३२॥

इसलिए प्रकृति से भद्रिक, शांत, विनीत, मृदु, उत्तम ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव परमानन्द के भाजन बनते हैं ऐसा आगम में कहा गया है ।

मित्राद्वात्रिंशिका - २१

मित्रायां दर्शनं मन्दं योगाङ्गं च यमो भवेत् ।
अखेदो देवकार्यादावन्यत्राऽद्वेष एव च ।।१।।

मित्रा दृष्टि में दर्शन मंद होता है । योग के अंग रूप यम होता है । देव के कार्यादि में खेद नहीं होता हैं अन्यत्र अद्वेष ही होता है ।

अहिंसासूनृताऽस्तेय-ब्रह्माऽकिञ्चनता यमाः ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।।२।।

अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता ये पाँच यम हैं । दिशा ओर काल आदि से अनवच्छिन्न यम सार्वभौम महाव्रत स्वरूप बनते हैं ।

बाधनेन वितर्काणां प्रतिपक्षस्य भावनात् ।
योगसौकर्यतोऽमीषां योगाङ्गत्वमुदाहृतम् ।।३।।

वितर्कों के प्रतिपक्ष की भावना से वितर्कों को रोकने के द्वारा योग सरल बनता हैं । इसी कारण यम आदि योग के अंग कहे गए हैं ।

क्रोधाल्लोभाच्च मोहाच्च कृताऽनुमित-कारिताः ।
मृदु-मध्याऽधिमात्राश्च वितर्काः सप्तविंशतिः ।।४।।

क्रोध, लोभ और मोह से मृदु मध्य और अधिक मात्रा में करण, करावण, अनुमोदन से वितर्क के २७ प्रकार होते हैं ।

दुःखाऽज्ञानाऽनन्तफला अमी इति विभावनात् ।
प्रकर्षं गच्छतामेतद्यमानां फलमुच्यते ।।५।।

अनन्त दुःख और अज्ञान स्वरूप फलवाले हिंसा आदि वितर्क हैं । इस प्रकार विभावन करने से प्रकर्ष प्राप्त यम के ये फल कहे जाते हैं ।

वैरत्यागोऽन्तिके तस्य, फलं चाऽकृतकर्मणः ।
रत्नोपस्थानसद्वीर्यलाभो जनुरनुस्मृतिः ।।६।।

अहिंसा आदि यम को सिद्ध करनेवाले के पास क्रमशः १. वैरत्याग, २. काम न करने पर भी फल लाभ, ३. रत्नो की उपस्थिति, ४. विशिष्ट वीर्य लाभ और ५. जातिस्मरण ज्ञान स्वरूप फल मिलता है ।

इत्थं यमप्रधानत्वमवगम्य स्वतन्त्रतः ।
योगबीजमुपादत्ते श्रुतमत्र श्रुतादपि ।।७।।

इस प्रकार स्वदर्शन के अनुसार अहिंसादि यम प्रधानता को जानकर मित्रादृष्टि में रहा जीव जिन प्रवचन से सुना हुआ योगबीज को ग्रहण करता है ।

जिनेषु कुशलं चित्तं तन्नमस्कार एव च ।
प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमनुत्तमम् ।।८।।

जिनेश्वर में कुशल चित्त, उनको संशुद्ध नमस्कार और उनको संशुद्ध प्रणाम आदि सर्वोत्कृष्ट योगबीज हैं ।

चरमे पुद्गलावर्ते तथाभव्यत्वपाकतः ।
प्रतिबन्धोज्झितं शुद्धमुपादेयधिया ह्यदः ।।९।।

गाथार्थ : चरम पुद्गलावर्त में निश्चित ही तथाभव्यत्व के परिपाक से प्रतिबंधशून्य उपादेय बुद्धि से ग्रहण होते योगबीज शुद्ध होते हैं ।

प्रतिबन्धैकनिष्ठं तु स्वतः सुन्दरमप्यदः ।
तत्स्थानस्थितिकार्येव वीरे गौतमरागवत् ।।१०।।

स्वतः सुंदर होने पर भी जो योगबीज केवल प्रतिबंध (आसक्ति मात्र में) निष्ठ होते हैं वे प्रभु वीर प्रति गौतमस्वामी के राग के समान उसी गुणस्थान में स्थिति कराते हैं ।

सरागस्याऽप्रमत्तस्य वीतरागदशानिभम् ।
अभिनन्दतोऽप्यदो ग्रन्थिं योगाचार्यैर्यथोदितम् ।।११।।

जिस प्रकार सराग अप्रमत्त यति को वीतराग दशा होती है । वैसे ही ग्रन्थि को नहीं भेदने पर भी मित्रादृष्टिवाले योगी को योगबीज शुद्ध होता हैं। योगाचार्यों ने कहा है कि- (आगे गाथा में)

ईषदुन्मज्जनाऽऽभोगो योगचित्तं भवोदधौ ।
तच्छक्त्यतिशयोच्छेदि दम्भोलिर्ग्रन्थिपर्वते ।।१२।।

योगचित्त भवसागर में कुछ उपर आने के अनुभव स्वरूप है तथा संसार के उद्रेक नाश करनेवाला है । उसी प्रकार ग्रन्थिदेश रूपी पर्वत पर वज्र के समान है ।

आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु ।
न चाऽन्येष्वप्यसारत्वात्कूटेऽकूटधियोऽपि हि ।।१३।।

भावयोगि आचार्य आदि में भी कुशलचित्त आदि संशुद्ध ही जानना। किंतु द्रव्य योगि में कुशलचित्त आदि संशुद्ध नहीं कहलाता है । निश्चित ही खोटे में अच्छेपन की बुद्धि भी असार ही है ।

श्लाघनाद्यसदाशंसापपरिहारपुरःसरम् ।
वैयावृत्त्यं च विधिना तेष्वाशयविशेषतः ।।१४।।

स्वप्रशंसा आदि की व्यर्थ आशंसा के त्यागपूर्वक भाव आचार्य आदि में विशेष प्रकार के आशय से विधिपूर्वक वैयावच्च करना वह शुद्ध योगबीज है।

भवादुद्विग्नता शुद्धौषधदानाधभिग्रहः ।
तथा सिद्धान्तमाश्रित्य विधिना लेखनादि च ।।१५।।

संसार से उद्विग्नता, शुद्ध औषध आदि के दान का अभिग्रह तथा सिद्धान्त के उद्देश्य से विधिपूर्वक लेखन आदि योगबीज जानना ।

लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ।
प्रकाशनाऽथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावनेति च ।।१६।।

पवित्र शास्त्रो का लेखन, पूजन, दान श्रवण, वाचना ग्रहण, प्रकाशन, स्वाध्याय, चिंतन और भावना ये योगबीज हैं ।

बीजश्रुतौपरा श्रद्धाऽन्तर्विश्रोतसिकाव्ययात् ।
तदुपादेयभावश्च फलौत्सुक्यं विनाऽधिकः ।।१७।।

आंतरिक शंका न होने से योगबीज का श्रवण करते समय मित्रादृष्टिवाले योगी को प्रकृष्ट श्रद्धा प्रगट होती हैं तथा फल की उत्सुकता बिना बीज श्रवण प्रति अधिक उपादेय भाव उछलता है ।

निमित्तं सत्प्रणामादेर्भद्रभूर्तेरमुष्य च ।
शुभो निमित्तसंयोगोऽवञ्चकोदयतो मतः ।।१८।।

योग की प्रथमदृष्टिवाले भद्रमुर्ति जीव को विधिपूर्वक प्रणाम आदि करने का निमित्त बने वैसा शुभनिमित्त संयोग अवंचक योग के उदय से प्राप्त होता है । ऐसा शास्त्रकारों को मान्य है ।

योग-क्रिया-फलाऽऽख्यं च साधुभ्योऽवञ्चकत्रयम् ।
श्रुतः समाधिरव्यक्त इषुलक्ष्यक्रियोपमः ।।१९।।

साधु के आश्रय से योग, क्रिया और फल नाम के तीन अवंचक योग अव्यक्त समाधि रूप में सुने जाते हैं । बाण की लक्ष्य की ओर क्रिया के समान यह अवंचक योग हैं ।

हेतुरत्राऽन्तरङ्गश्च तथाभावमलाल्पता ।
ज्योत्स्नादाविव रत्नादिमलाऽपगम उच्यते ।।२०।।

अर्थात् यहाँ सत्प्रणाम आदि के निमित्त अवञ्चकयोग की प्राप्ति में उस प्रकार के भावमल की अल्पता यह आंतरिक हेतु हैं। जैसे रत्न की कांति आदि में रत्न आदि के मेल की निवृत्ति आंतरिक कारण कहलाता हैं, वैसी उपरोक्त बात समझना ।

सत्सु सत्त्वधियं हन्त मले तीव्रे लभेत कः ।
अङ्गुल्या न स्पृशेत् पङ्गु शाखां सुमहतस्तरोः ।।२१।।

भाव मल तीव्र हो तो साधु में साधुत्व की बुद्धि को कौन प्राप्त कर सकता है ? निश्चित ही पंगु व्यक्ति अत्यंत उँचे वृक्ष की शाखा को अंगुली से स्पर्श नहीं कर सकता है ।

वीक्ष्यते स्वल्परोगस्य चेष्टा चेष्टाऽर्थसिद्धये ।
स्वत्पकर्ममलस्याऽपि तथा प्रकृतकर्मणि ।।२२।।

जिसका रोग मंद हो गया हो उसकी प्रवृत्ति इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए दिखाई देती है वैसे ही प्रस्तुत कार्य में स्वल्प कर्ममल वाले जीव की प्रवृत्ति समझना ।

यथाप्रवृत्तकरणे चरमे चेदृशी स्थितिः ।
तत्त्वतोऽपूर्वमेवेदमपूर्वाऽऽसत्तितो विदुः ।।२३।।

चरम यथाप्रवृत्तकरण में जीव की ऐसी स्थिति अपूर्वकरण के समीप होने के कारण परमार्थ से होती है, यह चरम यथाप्रवृत्तकरण अपूर्व ही है- ऐसा योगवेत्ता जानते हैं ।

प्रवर्त्तते गुणस्थानपदं मिथ्यादृशीह यत् ।
अन्वर्थयोजना नूनमस्यां तस्योपपद्यते ।।२४।।

यहाँ मिथ्यादृष्टि में गुणस्थान शब्द प्रयोग होता हैं । निश्चित ही गुणस्थान शब्द के योगअर्थ की संगति मित्रादृष्टि में ही संगत हो सकती है ।

व्यक्तामिथ्यात्वधीप्राप्तिरप्यन्यत्रेयमुच्यते ।
धने मले विशेषस्तु व्यक्ताऽव्यक्तधियोर्नु कः ।।२५।।

अन्यत्र व्यक्त मिथ्यात्वबुद्धि की प्राप्ति कही है वह भी यह मित्रादृष्टि ही कहलाती हैं । कर्म का कचरा गाढ़ हो तो व्यक्त और अव्यक्त बुद्धि में क्या फर्क हो सकता हैं ?

यमः सद्योगमूलस्तु रुचिवृद्धिनिबन्धनम् ।
शुक्लपक्षद्वितीयाया योगश्चन्द्रमसो यथा ।।२६।।

जैसे शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्र का योग किरण की वृद्धि का निमित्त बनता हैं, वैसे ही सद्योगावंचक आदि मूलक अहिंसादि यम तत्त्वरुचि की वृद्धि का कारण बनता हैं ।

उत्कर्षादपकर्षाच्च शुद्ध्यशुद्ध्योरयं-गुणः ।
मित्रायामपुनर्बन्धात् कर्मेणां संप्रवर्त्तते ।।२७।।

मित्रादृष्टि में उत्कृष्ट कर्मों का पुनः बन्ध न होने से शुद्धि के उत्कर्ष से और अशुद्धि की हानि से तत्त्वरुचि गुण विकसित होता है ।

गुणाऽऽभासस्त्वकल्याणमित्रयोगेन कश्चन ।
अनिवृत्ताऽऽग्रहत्वेनाऽभ्यन्तरज्वरसन्निभः ।।२८।।

कदाग्रह मूल से उखड़ा हुआ न होने से मित्रादृष्टि में पापमित्र के योग से आंतरिक ज्वर के समान कोई गुणाभास प्रवर्तता है ।

मुग्धः सद्योगतो धत्ते गुणं दोषं विपर्ययात् ।
स्फटिको नु विधत्ते हि शोण-श्यामसुमत्विषम् ।।२९।।

मित्रादृष्टिवाला मुग्ध जीव साधुसमागम से गुण को ग्रहण करता है, तथा कुसंग से दोष ग्रहण करता है । निश्चित ही स्फटिक पद्मरागमणि सानिध्य से लालिमा और श्याम फूल के सानिध्य से श्याम कांति को धारण करता है ।

यथौषधीषु पीयूषं द्रुमेषु स्वर्द्रुमो यथा ।
गुणेष्वपि सतां योगस्तथा मूख्य इहेष्यते ।।३०।।

जैसे औषधियों में अमृत मुख्य है, वृक्षो में कल्प वृक्ष मुख्य हैं; वैसे ही मित्रादृष्टि में गुणों में साधु का समागम मुख्य हैं ।

विनैनं मतिमूढानां येषां योगोत्तमस्पृहा ।
तेषां हन्त विना नावमुत्तितीर्षा महोदधेः ।।३१।।

यदि अतिमूढ जीवों को साधुसमागम के बिना उत्तम योग की स्पृहा है तो उन जीवों के लिए निश्चित्त ही खेद की बात है कि, वह नाव के बिना ही महासागर को पार करने की इच्छा है ।

तन्मित्रायां स्थितौ दृष्टौ सद्योगेन गरीयसा ।
समारुह्य गुणस्थानं परमानन्दमश्नुते ।।३२।।

इसलिए मित्रादृष्टि में स्थित साधक महान (अवंचक) साधुसमागम से गुणस्थानक पर आरुढ होकर परमानन्द को प्राप्त करता हैं ।

अथ तारादित्रयद्वात्रिंशिका - २२

तारायां तु मनाक् स्पष्टं दर्शनं नियमाः शुभाः ।
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ।।१।।

तारादृष्टि में थोड़ा स्पष्ट दर्शन होता हैं । तथा शुभ नियम होता है । हितकारी प्रवृत्ति में उद्वेग नहीं होता है । उसी प्रकार तत्त्व विषयक जिज्ञासा होती है ।

नियमाः शौच-सन्तोषौ स्वाध्याय-तपसी अपि ।
देवताप्रणिधानं च योगाचार्यैरुदाहृताः ।।२।।

शौच, संतोष, स्वाध्याय, तप और ईश्वर प्रणिधान को योगाचार्य नियम कहते हैं ।

शौचभावनया स्वाङ्गजुगुप्साऽन्यैरसङ्गमः ।
सत्त्वशुद्धिः सौमनस्यैकाग्र्याऽक्षजययोग्यता ।।३।।

शौच भावना से (१) स्वयं की काया में जुगुप्सा होती है, (२) अन्य शरीरधारी के साथ संग छुटता है, (३) सत्त्व की शुद्धि होती है, (४) मानसिक प्रीति होती है, (५) मन की एकाग्रता, (६) इन्द्रियों की विजय तथा (७) आत्मदर्शन की योग्यता प्रगट होती है ।

सन्तोषादुत्तमं सौख्यं स्वाध्यायादिष्टदर्शनम् ।
तपसोऽङ्गाऽक्षयोः सिद्धिः समाधिः प्रणिधानतः ।।४।।

संतोष से उत्तम सुख प्राप्त होता है, स्वाध्याय से ईष्टदर्शन प्राप्त होता है; तप से काया और इन्द्रियों की सिद्धि होती हैं । ईश्वर के प्रणिधान से समाधि होती है ।

विज्ञाय नियमानेतानेवं योगोपकारिणः ।
अत्रैतेषु रतो दृष्टौ भवेदिच्छादिकेषु हि ।।५।।

इस प्रकार प्रस्तुत नियमों को योग में उपकारी जानकर तारादृष्टि में वर्तते योगी इच्छादि भूमिका में नियमों में निश्चित मग्न बनते हैं ।

भवत्यस्यामविच्छिन्ना प्रीतिर्योगकथासु च ।
यथाशक्त्युपचारश्च बहुमानश्च योगिषु ।।६।।

तारा दृष्टि में योग की कथा में अविच्छिन्न प्रीति होती है; तथा योगियों पर यथाशक्ति सेवा और बहुमान होता है ।

भयं न भवजं तीव्रं हीयते नोचितक्रिया ।
न चानाभोगतोऽपि स्यादत्यन्तानुचितक्रिया ।।७।।

संसारजन्य कोई तीव्र भय नहीं होता है, उचित क्रिया कम नहीं होती है; उसी प्रकार अत्यन्त अनुचित क्रिया तो अनजाने में भी नहीं होती है ।

स्वकृत्ये विकले त्रासो जिज्ञासा सस्पृहाधिके ।
दुःखोच्छेदाऽर्थिनां चित्रे कथन्ताधीः परिश्रमे ।।८।।

स्वयं की आराधना विकल हो तब उसको दुःख होता है । उत्कृष्ट साधना के प्रति अभिलाषा युक्त जिज्ञासा होती है । दुःख उच्छेद के अर्थियों के विविध परिश्रम के विषय में कैसे सम्पूर्ण रूप से जान सके ? ऐसी बुद्धि उसको उत्पन्न होती है ।

नाऽस्माकं महती प्रज्ञा सुमहान् शास्त्रविस्तरः ।
शिष्टाः प्रमाणमिह तदित्यस्यां मन्यते सदा ।।९।।

हमारी बुद्धि अधिक नहीं है और शास्त्र का विस्तार अत्यन्त विशाल है। इसलिए शिष्ट पुरुष ही प्रस्तुत में प्रमाणभूत हैं । ऐसा तारा दृष्टि में रहा साधक मानता है ।

सुखस्थिरासनोपेतं बलायां दर्शनं दृढम् ।
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः ।।१०।।

बला दृष्टि में बोध दृढ़ होता है । सुखकारी स्थिर आसन से युक्त वह दर्शन होता है । तत्त्वश्रवण की इच्छा प्रकृष्ट होती है तथा योग साधना में क्षेप दोष नहीं होता है ।

असत्तृष्णात्वराऽभावात् स्थिरं च सुखमासनम् ।
प्रयत्नश्लथताऽऽनन्त्यसमापत्तिबलादिह ।।११।।

व्यर्थ तृष्णा अथवा त्वरा न होने के कारण बला दृष्टि में आसन स्थिर और सुखकारी होता है । प्रयत्न की शिथिलता और आनन्त्य विषयक समापत्ति के बल से बलादृष्टि में आसन विजय होता है ।

अतोऽन्तरायविजयो द्वन्द्वाऽनभिहतिः परा ।
दृष्टदोषपरित्यागः प्रणिधानपुरः सरः ।।१२।।

१. आसन जय से अन्तराय की विजय होती है । २. ठंडी-गर्मी आदि द्वन्द से पराभव नहीं होता है । ३. दृष्ट दोषों का त्याग प्रणिधानपूर्वक होता है ।

कान्ताजुषो विदग्धस्य दिव्यगेयश्रुतौ यथा ।
यूनो भवति शुश्रूषा तथास्यां तत्त्वगोचरा ।।१३।।

पत्नि से युक्त तथा गायन-कला में निपुण ऐसे युवक को दिव्य गीत का श्रवण करने में जैसी तीव्र इच्छा होती है । वैसी बला दृष्टि में तत्त्व श्रवण की तीव्र इच्छा होती हैं ।

अभावेऽस्याः श्रुतं व्यर्थं बीजन्यास इवोषरे ।
श्रुताऽभावेऽपि भावेऽस्या ध्रुवः कर्मक्षयः पुनः ।।१४।।

उसर भूमि में जैसे बीज बौना व्यर्थ है; वैसे ही तत्त्व शुश्रूषा (सुनने की इच्छा) के बिना सुना हुआ व्यर्थ है । तत्त्व सुनने की प्रवृत्ति नहीं हो किंतु सुनने की इच्छा हो तो भी अवश्य कर्म की निर्जरा होती है ।

योगारम्भ इहाक्षेपात् स्यादुपायेषु कौशलम् ।
उप्यमाने तरौ दृष्टा पयः सेकेन पीनता ।।१५।।

बला दृष्टि में अन्यत्र चित्त का क्षेप न होने से योग साधना को प्रारंभ करने में उसके उपायों में कुशलता आती है । निश्चित ही वृक्ष बौने पर पानी का सिंचन करने से वृक्ष की पुष्टि प्रसिद्ध है ।

प्राणायामवती दीप्रा योगोत्थानविवर्जिता ।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोधमनाश्रिता ।।१६।।

दीप्रा दृष्टि में प्राणायाम नाम का गुण होता है । योग साधना में उत्थान नाम का दोष नहीं होता है । तत्त्वश्रवण का गुण होता है । किंतु यहाँ सूक्ष्म बोध नहीं होता है ।

रेचकः स्याद्बहिर्वृत्तिरन्तर्वृत्तिश्च पूरकः ।
कुम्भकः स्तम्भवृत्तिश्च प्राणायामस्त्रिधेत्ययम् ।।१७।।

वायु को बाहर निकालना वह रेचक प्राणायाम कहलाता है । श्वास को अन्दर लेना वह पूरक कहलाता है । वायु को अन्दर रोककर रखना वह कुम्भक कहलाता है । इस तरह ये प्राणायाम तीन प्रकार के होते हैं ।

धारणा योग्यता तस्मात् प्रकाशाऽऽवरणक्षयः ।
अन्यैरुक्तः क्वचिच्चैतद्युज्यते योग्यताऽनुगम् ।।१८।।

प्राणायाम से धारणा की योग्यता आती है । प्रकाश के आवरण का क्षय होता है । ऐसा अन्यदार्शनिक कहते हैं । यह बात किसी जीव में योग्यता के अनुसार संगत होती है ।

रेचनाद् बाह्यभावानामन्तर्भावस्य पूरणात् ।
कुम्भनान्निश्चिताऽर्थस्य प्राणायामश्च भावतः ।।१९।।

बाह्य भाव का रेचन (विसर्जन) करने से, अंतर्भाव का पुरण (ग्रहण) करने से, तथा निश्चितार्थ का कुंभन (स्थिरीकरण) करने से भाव की अपेक्षा से प्राणायाम होता है ।

प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः प्राणायामविनिश्चयात् ।
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं न धर्मं प्राणसङ्कटे ।।२०।।

गाथार्थ : प्राणो की अपेक्षा भी धर्म महान हैं । ऐसी मान्यता दीप्रा दृष्टि में प्राणायाम से निश्चित होने से दीप्रादृष्टिवाले योगी धर्म के लिए स्वयं के प्राण त्याग देते हैं; पर प्राण संकट में आने पर भी वे धर्म नहीं छोड़ते हैं ।

पुण्यबीजं नयत्येवं तत्त्वश्रुत्या सदाशयः ।
भवक्षाराम्भसस्त्यगाद् वृद्धिं मधुरवारिणा ।।२१।।

इस प्रकार संसार रूपी खाने-पानी का त्याग करके सदाशय वाले योगी तत्त्वश्रवण रूप मधुर पानी के द्वारा पुण्य बीज को अंकुरित करते हैं ।

तत्त्वश्रवणतस्तीव्रा गुरुभक्तिः सुखाऽऽवहा ।
समापत्त्यादिभेदेन तीर्थकृद्दर्शनं ततः ।।२२।।

तत्त्वश्रवण से गुरुभक्ति प्रकट होती है; जो कि, सुखकारी होती है । गुरुभक्ति से समापत्ति आदि प्रकार से तीर्थंकर का दर्शन होता है ।

कर्मवज्रविभेदेनानन्तधर्मकगोचरे ।
वेद्यसंवेद्यपदजे बोधे सूक्ष्मत्वमत्र न ।।२३।।

कर्म रूपी वज्र को भेदने के द्वारा अनंतगुणधर्मात्क वस्तु को ग्रहण करने में वेद्यसंवेद्यपदजन्य बोध में जो सूक्ष्मता होती हैं । वैसी सूक्ष्मता दीप्रा दृष्टि में नहीं होती है ।

अवेद्यसंवेद्यपंद चतसृष्वासु दृष्टिषु ।
पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्त्याभं यदुल्बणम् ।।२४।।

प्रथम चार योगदृष्टि में पक्षी की छाया में जलचर प्राणी की प्रवृत्ति के समान अवेद्यसंवेद्य पद प्रबल होता है ।

वेद्यं संवेद्यते यस्मिन्नपायादिनिबन्धनम् ।
पदं तद्वेद्यसंवेद्यमन्यदेतद्विपर्ययात् ।।२५।।

अपाय आदि (नरकादि) का कारण बने वैसे वेद्य पदार्थों का यदि आशयस्थान में यथावस्थित प्रकार से वेदन हो तो वह वेद्यसंवेद्य पद कहलाता है । इसके विपरीत स्वरूपवाला दूसरा अवेद्यसंवेद्य पद है ।

अपायशक्तिमालिन्यं सूक्ष्मबोधविघातकृत् ।
न वेद्यसंवेद्यपदे वज्रतण्डुलसन्निभे ।।२६।।

वज्र के चावल के समान दृढ़ वेद्यसंवेद्य पद में सूक्ष्म बोध में व्याघात करे वैसी अपायशक्ति रूप मलिनता नहीं होती है ।

तच्छक्तिः स्थूलबोधस्य बीजमन्यत्र चाऽक्षतम् ।
तत्र यत्पुण्यबन्धोऽपि हन्ताऽपायोत्तरः स्मृतः ।।२७।।

अवेद्यसंवेद्यपद में जो अपायशक्ति रही हुई है, वह स्थूल बोध का अक्षत कारण हैं; क्योंकि अवेद्यसंवेद्य पद में निश्चित पुण्यबंध भी विघ्न लाने वाला बताया गया है ।

प्रवृत्तिरपि योगस्य वैराग्यान्मोहगर्भतः ।
प्रसूतेऽपायजननीमुत्तरां मोहवासनाम् ।।२८।।

अवेद्यसंवेद्यपद में योग की प्रवृत्ति भी मोहगर्भित वैराग्य से होती हैं । वह प्रवृत्ति अनर्थकारी उत्तरोत्तर मोहवासना को उत्पन्न करती है ।

अवेद्यसंवेद्यपदे पुण्यं निरनुबन्धकम् ।
भवाभिनन्दिजन्तूनां पापं स्यात्सानुबन्धकम् ।।२९।।

अवेद्यसंवेद्यपद में पुण्य निरनुबन्धी होता है । जबकि अवेद्यसंवेद्यपद वाले भवाभिनंदी जीव का पाप पापानुबन्धी बनता है ।

कुकृत्यं कृत्यमाभाति कृत्यं चाकृत्यमेव हि ।
अत्र व्यामूढचित्तानां कण्डूकण्डूयनादिवत् ।।३०।।

अवेद्यसंवेद्यपद में रहे मूढमन वाले जीव को बुरा कार्य करने जैसा लगता है; तथा कर्तव्य अकर्तव्य रूप ही लगता है । खुजली के रोगी की खुजालने की प्रवृत्ति जैसी यह दशा है ।

एतेऽसच्चेष्ट्यात्मानं मलिनं कुर्वते निजम् ।
बडिशामिषवत्तुच्छे प्रसक्ता भोगजे सुखे ।।३१।।

भवाभिनन्दी जीव बुरी प्रवृत्ति से स्वयं की आत्मा को मलिन करते हैं। क्योंकि मछली पकड़ने के कांटे में रहे मांस के समान तुच्छ और दारुण विपाकवाले भोगजन्य सुख में भवाभिनन्दी जीव आसक्त होते हैं ।

अवेद्यसंवेद्यपदं सत्सङ्गाऽऽगमयोगतः ।
तद्दुर्गतिप्रदं जेयं परमानन्दमिच्छता ।।३२।।

इसलिए परमानन्द को चाहनेवाले साधक को सत्संग और सत् शास्त्र के योग से दुर्गतिदायी अवेद्यसंवेद्यपद को जीतना चाहिए ।

कुतर्कग्रहनिवृत्तिद्वात्रिंशिका - २३

जीयमानेऽत्र राज्ञीव चमूचरपरिच्छदः ।
निवर्त्तते स्वतः शीघ्रं कुतर्कविषमग्रहः ।।१।।

जैसे राजा को जीत लिया जाय तो उसकी सेना एवं गुप्तचर परिवार निवृत्त हो जाता है; वैसे ही अवेद्यसंवेद्यपद (मिथ्यात्व का कारण) को जीत लिया तो कुतर्क रूपी विचित्र ग्रह स्वतः ही निवृत्त हो जाता हैं ।

शमाऽऽरामाऽनलज्वाला हिमानी ज्ञानपङ्कजे ।
श्रद्धाशल्यं स्मयोल्लासः कुतर्कः सुनयाऽर्गला ।।२।।

उपशम भाव रूपी बगिचे के विनाश के लिए कुतर्क अग्निज्वाला के समान हैं । ज्ञान रूपी कमल के लिए हिम के समान श्रद्धा के लिए कांटे की वेदना के समान वह कुतर्क हैं । कुतर्क मिथ्याभिमान को उल्लसित करनेवाला तथा सुनय की प्राप्ति में अर्गला सांकल के समान हैं ।

कुतर्केऽभिनिवेशस्तन्न युक्तो मुक्तिमिच्छताम् ।
युक्तः पुनः श्रुते शीले समाधौ शुद्धचेतसाम् ।।३।।

मोक्ष की इच्छा करनेवाले साधको को कुतर्क में आग्रह रखना उचित नहीं है । शुद्ध चित्तवाले साधक के लिए तो श्रुत, शील और समाधि में आग्रह रखना ही युक्ति संगत है ।

उक्तं च योगमागज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ।।४।।

तप के द्वारा जिसने आत्मा का कचरा धो लिया है वैसे योगमार्ग विशारदों ने भावि योगी के अत्यन्त हित के लिए मोहान्कार में दीप के समान वचन कहे हैं । (जो आगे के श्लोक में बताये गये हैं ।)

वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद् गतौ ।।५।।

शास्त्रमान्य रीति से वाद और प्रतिवाद करनेवाले मुमुक्षु आत्मादि तत्त्व की गहराई को प्राप्त नहीं कर सकते हैं । वह वैसे ही होते हैं जैसे तील को पीलनेवाले घाणी के बैल दिनभर गोल-गोल घुमने पर भी कही नहीं पहुँचते हैं ।

विकल्पकल्पनाशिल्पं प्रायोऽविद्याविनिर्मितम् ।
तद्योजनामयश्चाऽत्र कुतर्कः किमनेन तत् ।।६।।

विकल्पों की कल्पना रूप शिल्प प्रायः अविद्या से निर्मित होता हैं । यहाँ कुतर्क उसकी योजना करने स्वरूप होते हैं । इसलिए कुतर्क छोड़ना चाहिए।

जातिप्रायश्च बाध्योऽयं प्रकृताऽन्यविकल्पनात् ।
हस्ती हन्तीतिवचने प्राप्ताऽप्राप्तविकल्पवत् ।।७।।

ये कुतर्क दुषण के समान हैं । अप्रयोजनभूत विषय के विकल्प करने से कुतर्क बाध्य (फल प्राप्ति में) हैं । हाथी मारता है; इस वचन में प्राप्त अप्राप्त विकल्प के समान यह बात समझना ।

स्वभावोत्तरपर्यन्त एषोऽत्राऽपि च तत्त्वतः ।
नाऽर्वाग्दृग्ज्ञानगम्यत्वमन्यथाऽन्येन कल्पनात् ।।८।।

जहाँ स्वभाव ही अंतिम उत्तर है ऐसा यह कुतर्क है । यहाँ परमार्थ से स्वभाव भी छद्मस्थ जीव के ज्ञान से पहचाना नहीं जाता है क्योंकि वादी द्वारा अन्य प्रकार के स्वभाव की कल्पना की जाती है ।

अपां दाहस्वभावत्वे दर्शिते दहनान्ति के ।
विप्रकृष्टेप्ययस्कान्ते स्वार्थशक्तेः किमुत्तरम् ।।९।।

अग्नि के पास पानी को जलाने का स्वभाव हैं ऐसा कुतर्क बतलाते हैं। तब जवाब क्या हो ? क्योंकि दूर होने पर भी लोहचुंबक में लोहखंड को खिंचने की शक्ति होती है ।

दृष्टान्तमात्रसौलभ्यत्तदयं केन वार्यताम् ।
स्वभावबाधने नाऽलं कल्पनागौरवादिकम् ।।१०।।

सभी प्रकार के उदाहरण सुलभ होने के कारण कुतर्क को कौन रोक सकता है ? स्वभाव को बाध करके में कल्पना गौरव आदि समर्थ नहीं हैं।

द्विचन्द्र-स्वप्नविज्ञाननिदर्शनबलोत्थितः ।
धियां निरालम्बनतां कुतर्कः साधयत्यपि ।।११।।

द्विचन्द्र विज्ञान और स्वप्नविज्ञान रूप उदाहरण के बल से खड़ा हुआ कुतर्क बुद्धि की निरालंबता (असत्य ज्ञान) को भी सिद्ध कर देता है ।

तत्कुतर्केण पर्यासमसमञ्जसकारिणा ।
अतीन्द्रियाऽर्थसिद्ध्यर्थं नाऽवकाशोऽस्य कुत्रचित् ।।१२।।

अनुचित पदार्थ की सिद्धि करनेवाले कुतर्क को छोड़ो । अतीन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि के लिए कुतर्क का कोई स्थान नहीं हैं ।

शास्त्रस्यैवाऽवकाशोऽत्र कुतर्काऽग्रहतस्ततः ।
शीलवान् योगवनत्र श्रद्धावांस्तत्त्वविद् भवेत् ।।१३।।

अतीन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि में शास्त्र का ही स्थान हैं । इसलिए कुतर्क को ग्रहण किये बिना शास्त्र में श्रद्धावान्, शीलवान और योगवान हो तो तत्त्ववेत्ता बन सकता है ।

तत्त्वतः शास्त्रभेदश्च न शास्तॄणामभेदतः ।
मोहस्तदधिमुक्तीनां तद्भेदाऽऽश्रयणं ततः ।।१४।।

परमार्थ से शास्त्र में कोई भेद नहीं । क्योंकि शास्त्र कर्ताओं में कोई भेद नहीं हैं । इसलिए शास्त्रकार के प्रति श्रद्धा रखनेवाले जीव शास्त्रों के प्रति यदि भेद बुद्धि रखते हैं तो वह उनका अज्ञान है ।

सर्वज्ञो मुख्य एकस्तत्प्रतिपत्तिश्च यावताम् ।
सर्वेऽपि ते तमापन्ना मुख्यं सामान्यतो बुधाः ।।१५।।

मुख्य सर्वज्ञ एक ही हैं । जितने भी ज्ञानीजन सर्वज्ञ की भक्ति करते हैं वे सभी सामान्य से मुख्य सर्वज्ञ के ही आश्रित हैं ।

न ज्ञायते विशेषस्तु सर्वथाऽसर्वदर्शिभिः ।
अतो न ते तमापन्ना विशिष्य भूमि केचन ।।१६।।

सर्वज्ञ में रही विशेषताओं को छद्मस्थ जीव सभी प्रकार से जान नहीं सकते हैं । इसलिए दुनियां में कोई भी सर्वज्ञवादि सर्वज्ञ का अशेषविशेष रूप से आश्रय कर ही नहीं सकता है ।

सर्वज्ञप्रतिपत्त्यंशमाश्रित्याऽमलया धिया ।
निर्व्याजं तुल्यता भाव्या सर्वतन्त्रेषु योगिनाम् ।।१७।।

निर्मल बुद्धि से दंभरहित होकर सर्वज्ञ को स्वीकार करने स्वरूप अंश की अपेक्षा से सभी धर्म में रहे योगियों में समानता का परिभावन करना चाहिए।

दूराऽऽसन्नादिभेदस्तु तद्भृत्यत्वं निहन्ति न ।
एको नामादिभेदेन भिन्नाऽऽचारेष्वपि प्रभुः ।।१८।।

सर्वज्ञ से दूरत्व, समीपत्व आदि अवान्तर भेद अलग-अलग धर्म में रहे मुमुक्षुओं में होने पर भी सर्वज्ञ के उपासकपने का नाश नहीं होता है । क्योंकि विभिन्न आचार वाले योगियों ने भी नामादि भेद से एक ही प्रभु को स्वीकारा हैं ।

देवेषु योगशास्त्रेषु चित्राऽचित्रविभागतः ।
भक्तिवर्णनमप्येवं युज्यते तदभेदतः ।।१९।।

योगशास्त्र में देव के विषय में विभिन्न और अभिन्न विभाग से किया गया भक्ति का वर्णन भी इस प्रकार संगत हो सकता है । क्योंकि देवतत्त्व में कोई भेद नहीं है ।

संसारिषु हि देवेषु भक्तिस्तत्कायगामिनाम् ।
तदतीते पुनस्तत्त्वे तदतीताऽर्थयायिनाम् ।।२०।।

संसारि देवों के समुदाय में जानेवाले जीवों की भक्ति संसारी देवों के उद्देश से होती है । संसरातीत मार्ग से जानेवाले योगीयों की भक्ति संसारातीत तत्त्व के उद्देश से होती है ।

चित्रा चाऽऽद्येषु तद्रागतदन्यद्वेषसङ्गता ।
अचित्रा चरमे त्वेषा शमसाराऽखिलैव हि ।।२१।।

संसारी देवों की भक्ति उनके संबंध में राग और अन्य के प्रति द्वेष से युक्त होती हैं । संसारतीत देवो के प्रति तो सभी भक्ति शम के सारवाली एक समान ही होती हैं । क्योंकि वह समता प्रधान हैं ।

इष्टापूर्तानि कर्माणि लोके चित्राऽभिसन्धितः ।
फलं चित्रं प्रयच्छन्ति तथा बुद्ध्यादिभेदतः ।।२२।।

लोक में विविध प्रकार के आशय से होते इष्ट और पूर्त्त कार्य बुद्धि आदि के भेद से विविध फल को देते हैं ।

बुद्धिर्ज्ञान मसमोहस्त्रिविधो बोध इष्यते ।
रत्नोपलम्भ-तज्ज्ञान-तदवासिनिदर्शनात् ।।२३।।

रत्न का दर्शन, रत्न का ज्ञान और रत्न की प्राप्ति उदाहरण के अवलंबन से बोध तीन प्रकार के माने गये हैं । (१) बुद्धि, (२) ज्ञान और (३) असंमोह।

आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः सम्पदागमः ।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ।।२४।।

आदर, करने में प्रीति, विघ्न का अभाव, सपत्ति का आगमन, जिज्ञासा, उनके जानकार की सेवा ये सद्नुष्ठान के लक्षण हैं ।

भवाय बुद्धिपूर्वाणि विपाकविरसत्वतः ।
कर्माणि ज्ञानपूर्वाणि श्रुतशक्त्या च मुक्तये ।।२५।।

बुद्धिपूर्वक किये गये अनुष्ठान संसार के लिए हैं । क्योंकि उनका परिणाम विरस हैं । ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले अनुष्ठान मोक्ष के लिए हैं । क्योंकि उसमें श्रुतशक्ति का समावेश होता है ।

असंमोहसमुत्थानि योगिनामाशु मुक्तये ।
भेदेऽपि तेषामेकोऽध्वा जलधौ-तीरमार्गवत् ।।२६।।

असंमोह नाम के बोध से उत्पन्न हुआ अनुष्ठान ही योगियों को शीघ्र मोक्ष देनेवाला होता है । योगियों में भेद होने पर भी उनका मार्ग एक हैं । जैसे समुद्र के तीर पर आनेवाले में अवस्था भेद होने पर भी मार्ग तीर पर आने का ही होता है । इसलिए मार्ग एक कहलाता है ।

तस्मादचित्रभक्त्याऽऽप्याः सर्वज्ञा न भिदामिताः ।
चित्रा गीर्भववैद्यानां तेषां शिष्याऽऽनुगुण्यतः ।।२७।।

इसलिए एकसमान भक्ति से प्राप्त हो सके वैसे सर्वज्ञ परमार्थ से भेद को प्राप्त नहीं होते हैं । संसार के रोग को दूर करने में वैद्य के समान ऐसे सर्वज्ञो की वाणी में वैविध्य तो शिष्य की भूमिका से होता है ।

तथैव बीजाऽऽधानादेर्यथाभव्यमुपक्रिया ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यादेकस्या वा विभेदतः ।।२८।।

विभिन्न देशना के द्वारा बीजाधान आदि होने से भव्य जीवों की योग्यता के अनुसार उपकार होता है अथवा अचिन्त्य पुण्य के सामर्थ्य से एक ही देशना से श्रोता के अनुसार उपकार होता है ।

चित्रा वा देशना तत्तन्नयैः कालादियोगतः ।

यन्मूला तत्प्रतिक्षेपोऽयुक्तो भावमजानतः ।।२९।।

अथवा कलिकाल आदि के योग से अलग-अलग नाम से सर्वज्ञ वचनमूलक देशना विविध प्रकार की है । उसका भाव नहीं जाननेवाला व्यक्ति सर्वज्ञ का अपलाप करे वह योग्य नहीं है ।

यत्नेनाऽनुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते ।।३०।।

कुशल अनुमानकारो ने प्रयत्नपूर्वक अनुमान से जिस पदार्थो को सिद्ध किया हो उस पदार्थ को उनसे अधिक विद्वान दूसरे ही ढंग से सिद्ध कर दिखाते हैं ।

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ।।३१।।

यदि अतीन्द्रिय पदार्थ हेतुवाद से ही जाने जाते हो तो तार्किक प्राज्ञ पुरुष ने इतने समय तक उन अतीन्द्रिय पदार्थो का निर्णय कर लिया होता ।

तत्कुतर्कग्रहस्त्याज्यो ददता दृष्टिमागमे ।
प्रायो धर्मा अपि त्याज्याः परमानन्दसम्पदि ।।३२।।

इसलिए आगम में दृष्टि करनेवाले श्रावक को कुतर्क का आग्रह छोड़ना चाहिए । निश्चित ही परमानन्द की संपत्ति मिले तब प्रायः धर्म भी छोड़ने होते हैं ।

सद्दृष्टि द्वात्रिंशिका - २४

प्रत्याहारः स्थिरायां स्याद्दर्शनं नित्यमभ्रमम् ।
तथा निरतिचारायां सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ।।१।।

निरतिचार स्थिरा दृष्टि में प्रत्याहार नाम के योग का पांचवां अंग प्राप्त होता हैं तथा भ्रम विना का शाश्वत दर्शन प्राप्त होता है । वह दर्शन सूक्ष्म बोध से युक्त होता है ।

विषयाऽसम्प्रयोगेऽन्तः स्वरूपाऽनुकृतिः किल ।
प्रत्याहारो हृषीकाणामेतदायत्तताफलः ।।२।।

विषय का संप्रयोग न होने पर चित्तनिरोधस्वरूप को अनुसरना वह निश्चित इन्द्रियों का प्रत्याहार कहा गया हैं । उसका फल इन्द्रियों का नियंत्रण हैं ।

अतो ग्रन्थिविभेदेन विवेकोपेतचेतसाम् ।
त्रपायै भवचेष्टा स्याद् बालक्रीडोपमाऽखिला ।।३।।

ग्रन्थिभेद से विवेकसम्पन्न चित्तवाले जीव को प्रत्याहार से सभी सांसारिक चेष्टा बाल क्रीड़ा समान लज्जास्पद होती है ।

तत्त्वमत्र परञ्ज्योतिर्ज्ञस्वभावैकमूर्तिकम् ।
विकल्पतल्पमारूढः शेषः पुनरुप्लवः ।।४।।

स्थिरा दृष्टि में मात्र ज्ञानस्वभावस्वरूप श्रेष्ठ ज्योति ऐसा आत्मा ही तत्त्वरूप जानता है । उसके अतिरिक्त सभी को विकल्पशय्या पर आरुढ़ भ्रान्त रूप जानता है ।

भवभोगिफणाऽऽभोगो भोगोऽस्यामवभासते ।
फलं ह्यनात्मधर्मत्वात्तुल्यं यत्पुण्य-पापयोः ।।५।।

स्थिरा दृष्टि में भोगसुख संसार रूपी सर्प के फैले हुए फण के समान लगते हैं । क्योंकि पुण्य और पाप का फल अनात्म धर्म होने से समान है।

धर्मादपि भवन्भोगः प्रायोऽनर्थाय देहिनाम् ।
चन्दनादपि सम्भूतो दहत्येव हुताऽशनः ।।६।।

धर्म से उत्पन्न हुए भोगसुख भी प्रायः जीवो के लिए अनर्थकारी ही होता है । निश्चित शीतल चन्दन से उत्पन्न अग्नि भी जलाती ही है ।

स्कन्धात्स्कन्धान्तराऽऽरोपे भारस्येव न तात्त्विकी ।
इच्छाया विरतिर्भोगात्तत्संस्काराऽनतिक्रमात् ।।७।।

एक कंधे से दूसरे कंधे पर भार को रखने पर जिस प्रकार तात्त्विक भार निवृत्ति नहीं होती है; वैसे ही भोगसुख से इच्छा की निवृत्ति तात्त्विक नहीं होती है । क्योंकि उससे भोगसुख के संस्कारों का उल्लंघन नहीं होता है ।

धारणा प्रीतयेऽन्येषां कान्तायां नित्यदर्शनम् ।
नाऽन्यमुत् स्थिरभावेन मीमांसा च हितोदया ।।८।।

कान्ता दृष्टि में नित्य तत्त्व दर्शन होता है तथा अन्य जीवों के प्रीति का निमित्त हो वैसी धारणा होती है । स्थिरभाव होने से अन्यमुद नाम का दोष नहीं होता हैं तथा हितकारी मीमांसा होती है ।

देशबन्धो हि चित्तस्य धारणा तत्र सुस्थितः ।
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा ।।९।।

चित्त को एक स्थान में बांध के रखना वह धारणा कहलाती है । धारणा में रहा योगी जीवों का प्रिय बनता है तथा उसका मन धर्म में एकाग्र होता है।

अस्यामाक्षेपकज्ञानान्न भोगा भवहेतवः ।
श्रुतधर्मे मनोयोगाच्चेष्टाशुद्धेर्यथोदितम् ।।१०।।

कान्तादृष्टि में श्रुतधर्म में मन जुड़ा होने से आक्षेपक ज्ञान के कारण भोगसुख भी संसार के कारण नहीं बनते हैं; उनकी प्रवृत्ति भी शुद्ध होती है। जैसा कि कहा गया हैं- (आगे की गाथा में हैं ।)

मायाऽम्भस्तत्त्वतः पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम् ।
तन्मध्येन प्रयात्येव यथा व्याघातवर्जितः ।।११।।

भोगान् स्वरुपतः पश्यंस्तथा मायोदकोपमान् ।
भुञ्जानोऽपि ह्यसङ्गः सन् प्रयात्येव परं पदम् ।।१२।।

जैसे मृगजल को परमार्थ से मृगजल देखनेवाला व्यक्ति उससे उद्विग्न हुए बिना शीघ्र पार हो जाता है । वैसे ही भोगो को स्वरूप से मृगजल के समान देखनेवाला साधक भोगसुख को भोगते हुए भी उसमें अलिप्त रहा वह परम पद को प्राप्त करता है ।

भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोदधिलङ्घनम् ।
मायोदकदृढाऽऽवेशस्तेन यातीह कः पथा ।।१३।।

भोग में तत्त्व की बुद्धिवाला व्यक्ति भावसागर से पार नहीं हो पाता है। मृगजल में सत्यजल की दृढ़भ्रान्तिवाला कौन व्यक्ति जगत में उस मार्ग पर चलके जाता है ?

स तत्रैव भयोद्विग्नो यथा तिष्ठत्यसंशयम् ।
मोक्षमार्गेऽपि हि तथा भोगजम्बाल मोहितः ।।१४।।

मृगजल में सत्यजल की भ्रमणावाला व्यक्ति डूब जाने के भय से उद्विग्न होने से निशंक होकर वहीं खड़ा रहता है । वैसे ही भोगरूपी किचड़ से मुग्ध बना जीव मोक्ष मार्ग में भी खड़ा ही रहता है आगे नहीं बढ़ता है ।

धर्मशक्तिं न हन्त्यस्यां भोगशक्तिर्बलीयसीम् ।
हन्ति दीपापहो वायुर्ज्वलन्तं न दवानलम् ।।१५।।

कान्ता दृष्टि में बलवान भोगशक्ति धर्मशक्ति का हनन नहीं करती है। निश्चित दीपक को बुझानेवाली हवा जलते हुए दावानल को नहीं बुझाती है।

मीमांसा दीपिका चाऽस्यां मोहध्वान्तविनाशिनी ।
तत्त्वाऽऽलोकेन तेन स्यान्न कदाप्यसमञ्जसम् ।।१६।।

कान्ता दृष्टि में मीमांसा रूपी दीपक मोह के अंधकार को खत्म करता है। इसलिए तत्त्व प्रकाश के कारण यहाँ कभी भी असमंजस प्रवृत्ति नहीं होती है ।

ध्यानसारा प्रभा तत्त्वप्रतिपत्तियुता रुजा ।
वर्जिता च विनिर्दिष्टा सत्प्रवृत्तिपदाऽऽवहा ।।१७।।

प्रभादृष्टि ध्यान के कारण अत्यन्त रोचक बनती है । प्रभादृष्टि तत्त्वप्रतिपत्ति नाम के गुण से संपन्न होती है । रोग नाम का दोष यहाँ नहीं होता हैं तथा प्रभादृष्टि सत्प्रवृत्तिपद को लानेवाली कही गई है ।

चित्तस्य धारणादेशो प्रत्ययस्यैकतानता ।
ध्यानं ततः सुखं सारमात्माऽऽयत्तं प्रवर्त्तते ।।१८।।

धारणा के विषय में चित्त के उपयोग की एकतानता अर्थात् ध्यान । ध्यान से उत्कृष्ट स्वाधीन सुख प्रवर्ता है ।

सर्वं परवशं दुखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुखयोः ।।१९।।

पराधीन सभी वस्तु दुःखरूप हैं, जो स्वाधीन हैं, वह सुख रूप हैं । इस प्रकार संक्षेप में सुख और दुःख का लक्षण कहा गया है ।

ध्यानं च विमले बोधे सदैव हि महात्मनाम् ।
सदा प्रसृमरोऽनभ्रे प्रकाशो गगने विधोः ।।२०।।

तत्त्वबोध निर्मल हो तो महात्मा को सदैव ही ध्यान चालु रहता है । बादल के बिना आकाश में चंद्र का प्रकाश हमेशा फैला ही रहता है ।

सत्प्रवृत्तिपदं चेहाऽसङ्गाऽनुष्ठानसञ्ज्ञितम् ।
संस्कारतः स्वरसतः प्रवृत्त्या मोक्षकारणम् ।।२१।।

यहाँ सत्प्रवृत्तिपद असंग अनुष्ठान के नाम से समझना । संस्कार से स्वरस से की गई प्रवृत्ति के द्वारा वह सत्प्रवृत्तिपद मोक्ष का कारण बनता है ।

प्रशान्तवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः ।
शिववर्त्म ध्रुवाऽध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः ।।२२।।

असंग अनुष्ठान के योगीओं के द्वारा प्रशांतवाहिता, विसभाग-परिक्षय, शिववर्त्म, ध्रुवाध्वा नाम कहे गये हैं ।

प्रशान्तवाहिता वृत्तेः संस्कारात् स्यान्निरोधजात् ।
प्रादुर्भाव-तिरोभावौ तद्व्युत्थानजयोरयम् ।।२३।।

वृत्ति के निरोधजन्य संस्कार से प्रशांतवाहिता का लाभ होता हैं । निरोधजन्य संस्कार का आविर्भाव और व्युत्थानजन्य संस्कार का तिरोभाव अर्थात् वृत्ति का निरोध कहा गया है ।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः समाधिस्तु क्षयोदयौ ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तदितौ च प्रत्ययाविह ।।२४।।

सर्वाथता का क्षय और एकाग्रता का उदय अर्थात् समाधि परिणाम । जहाँ शांतप्रत्यय और उदित प्रत्यय तुल्य हो वह एकाग्रता कही गई है ।

अस्यां व्यवस्थितो योगी त्रयं निष्पादयत्यदः ।
ततश्चेयं विनिर्दिष्टा सत्प्रवृत्तिपदाऽऽवहा ।।२५।।

प्रभा दष्टि में रहा योगी इन तीन परिणाम को उत्पन्न करता है । उस कारण से यह दृष्टि सत् प्रवृत्तिपद को लानेवाली कही गई है ।

समाधिनिष्ठा तु परा तदाऽऽसङ्गविवर्जिता ।
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाऽऽशयेति च ।।२६।।

परा दृष्टि तो समाधिनिष्ठ होती है, किंतु समाधि के आसंग बिना की होती है । यहाँ प्रवृत्ति आत्मसात् की हुई होती है । उसी प्रकार प्रवृत्ति करने के आशय का यह दृष्टि पार प्राप्त होती है ।

स्वरूपमात्रनिर्भासं समाधिर्ध्यानमेव हि ।
विभागमनतिक्रम्य परे ध्यानफलं विदुः ।।२७।।

स्वरूपमात्र का निभास जिसमें होता है वैसा ध्यान ही समाधि है । अष्टांग योग विभाग का उल्लंघन किये बिना विचारने में आये तो ध्यान का फल समाधि है- ऐसा अन्य योगाचार्य कहते हैं ।

निराचारपदो ह्यस्यामतः स्यान्नऽतिचारभाक् ।
चेष्टा चाऽस्याऽखिला भुक्तभोजनाऽभाववन्मता ।।२८।।

परादृष्टि में अतिचार नहीं लगता है । इसलिए निराचार पद कहा गया है । भोजन किये हुए व्यक्ति को जैसे भोजन चेष्टा नहीं होती वैसे ही परादृष्टि वाले योगी की समस्त चेष्टा मानी गई है ।

रत्नशिक्षादृगन्या हि तन्नियोजनदृग्यथा ।
फलभेदात्तथाऽऽचारक्रियाऽप्यस्य विभिद्यते ।।२९।।

जिस प्रकार रत्नों का अभ्यास करनेवाले व्यक्ति की दृष्टि तथा रत्नों की परीक्षा करने में निपुण व्यक्ति की रत्नों के व्यापार में दृष्टि भिन्न ही होती है । वैसे ही आठवीं दृष्टिवाले योगी की भिक्षाटनादि क्रिया भी फल भेद से भिन्न प्रकार की ही होती है ।

कृतकृत्यो यथा रत्ननियोगाद्रत्नविद् भवेत् ।
तथाऽयं धर्मसंन्यासविनियोगान्महामुनिः ।।३०।।

रत्न के व्यापार से जैसे रत्न का जानकार कृत्य-कृत्य होता है, वैसे ही धर्म सन्यास के विनियोग से महामुनि कृत्य-कृत्य होता है ।

केवलश्रियमासाद्य सर्वलब्धिफलाऽन्विताम् ।
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगाऽन्तमश्नुते ।।३१।।

सर्व लब्धि के फल सहित केवलज्ञान स्वरूप लक्ष्मी को प्राप्त करके श्रेष्ठ परार्थ का संपादन करके योगी योग की पूर्णता प्राप्त करता है ।

तत्राऽयोगाद्योगमुख्याद् भवोपग्राहिकर्मणाम् ।
क्षयं कृत्वा प्रयात्युच्चैः परमानन्दमन्दिरम् ।।३२।।

शैलेशीदशा में सर्वयोग प्रधान अयोग नाम के योग से भवोपग्राही कर्म का क्षय करके योगी उपर परमानन्द के स्थान स्वरूप मोक्ष में पहुँचता है ।

क्लेशहानोपायद्वात्रिंशिका - २५

ज्ञानं च सदनुष्ठानं सम्यक् सिद्धान्तवेदिनः ।
क्लेशानां कर्मरूपाणां हानोपायं प्रचक्षते ।।१।।

सिद्धान्त के जानकार कर्मस्वरूप क्लेश के त्याग करने के उपाय रूप सम्यक् ज्ञान और सदनुष्ठान को बताते हैं ।

नैरात्म्यदर्शनादन्ये निबन्धनवियोगतः ।
क्लेशप्रहाणमिच्छन्ति सर्वथा तर्कवादिनः ।।२।।

सर्वथा तर्कवादि बौद्ध नैरात्मदर्शन से निमित्त कारण का वियोग होने से क्लेश के उच्छेद को मानते हैं ।

समाधिराज एतच्च तदेतत्तत्वदर्शनम् ।
आग्रहच्छेदकार्येतत्तदेतदमृतं परम् ।।३।।

नैरात्मदर्शन समाधिराज है । नैरात्मदर्शन ही तत्त्वदर्शन है । नैरात्मदर्शन आग्रहविच्छेद को करनेवाला होने से परम अमृत है ।

जन्मयोनिर्यतस्तृष्णा ध्रुवा सा चाऽऽत्मदर्शने ।
तदभावे च नेयं स्याद् बीजाऽभाव इवाङ्कुरः ।।४।।

पूर्वजन्म का कारण तृष्णा है । आत्मदर्शन हो तो अवश्य तृष्णा होती है । आत्मदर्शन न हो तो तृष्णा न हो । जैसे बीज न हो तो अंकुर नहीं होता है; वैसे ही यहाँ समझना ।

न ह्यपश्यन्नहमिति स्निह्यत्यात्मनि कश्चन ।
न चाऽऽत्मनि विना प्रेम्णा सुखहेतुषु धावति ।।५।।

निश्चित 'मैं हूँ' यह नहीं देखनेवाला बुद्धिशाली पुरुष आत्मा पर स्नेहवाला नहीं होता है और आत्मा पर प्रेम बिना कोई सुख के कारणो में दोड़ता नहीं है ।

नैरात्म्याऽयोगतो नैतदभाव-क्षणिकत्वयोः ।
आद्यपक्षेऽविचार्यत्वाद्धर्माणां धर्मिणं विना ।।६।।

(उपरोक्त) यह बात ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा का अभाव और आत्मा की क्षणिकता दोनो पक्ष में नैरात्म संगत नहीं होता है । प्रथम पक्ष में तो धर्मी

बिना गुणधर्म ही विचारने योग्य नहीं रहते हैं ।

वक्त्राद्यभावतश्चैव कुमारीसुतबुद्धिवत ।
विकल्पस्याऽप्यशक्यत्वाद्वक्तुं वस्तु विना स्थितम् ।।७।।

वक्ता आदि का अभाव होने के कारण प्रथम विकल्प योग्य नहीं है तथा कुंवारी कन्या को पुत्ररत्न के जन्म के समान स्थिर वस्तु बिना विकल्प बोलना भी शाक्य नहीं है ।

द्वितीयेऽपि क्षणादूर्ध्वं नाशादन्याऽप्रसिद्धितः ।
अन्यथोत्तरकार्याङ्गभावाऽविच्छेदतोऽन्वयात् ।।८।।

दूसरे विकल्प में भी क्षणभर पश्चात् आत्मा का नाश होने से अन्य अन्वयी अंश प्रसिद्ध न होने से नैरात्म संगत नहीं होता हैं । अन्यथा उत्तरकालीन कार्य प्रति कारण होने रूप पूर्वक्षण विच्छेद न होने से अन्वय मानने की आपत्ति आएगी।

स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे न क्षणस्याऽपरोदयः ।
अन्यजन्मस्वभावत्वे स्वनिवृत्तिरसङ्गता ।।९।।

क्षणिक आत्मा स्वनिवृत्ति स्वभाववाला हो तो फिर अन्य क्षण का जन्म हो नहीं सकता हैं तथा अन्य जनन स्वभाववाला हो तो स्वयं की निवृत्ति असंगत हो जाएगी ।

उभयैकस्वभावत्वे ना विरुद्धोऽन्वयोऽपि हि ।
न च तद्धेतुकः स्नेहः किं तु कर्मोदयोद्भवः ।।१०।।

दोनों (स्वनिवृति और परक्षणजनन) का एक स्वभाव माने तो आत्मा का अन्वय भी विरुद्ध न होगा । उसी प्रकार राग आत्मदर्शन के कारण नहीं परंतु कर्मोदय से वह उत्पन्न होता है ।

ध्रुवेक्षणेऽपि न प्रेम, निवृत्तमनुपप्लवात् ।
ग्राह्याऽऽकार इव ज्ञानेऽन्यथा तत्राऽपि तद् भवेत् ।।११।।

आत्मा के ध्रुव होने पर भी प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता है । क्योंकि अनुपप्लव के कारण ज्ञान में ग्राह्याकार के समान वह नष्ट हो चुका होता है। अन्यथा क्षणिक आत्मा में भी प्रेम उत्पन्न होने की समस्या आती है ।

विवेकख्यातिरुच्छेत्री क्लेशानामनुपप्लवा ।
सप्तधा प्रान्तभूप्रज्ञा कार्यचित्तविमुक्तिभिः ।।१२।।

अनुप्लव विवेकख्याति ही क्लेश का उच्छेद करनेवाली है । वह प्रान्तभूमि प्रज्ञा है । कार्यविमुक्ति और चित्तविमुक्ति द्वारा उस विवेक ख्याति के सात प्रकार हैं ।

बलान्नश्यत्यविद्याऽस्या उत्तरेषामियं पुनः ।
प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदाराणां क्षेत्रमिष्यते ।।१३।।

विवेकख्याति के बल से अविद्या नष्ट होती है । यह अविद्या प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार ऐसे अन्य अस्मिता आदि क्लेशो की जन्मभूमि के रूप में मान्य है ।

स्वकार्यं नारंभते ये, चित्तभूमौ स्थिता अपि ।
विना प्रबोधकबलं, ते प्रसुप्ताः शिशोरिव ।।१४।।

जो क्लेश, चित्तस्वरूप भूमि में रहते होने पर उसे जगानेवाले बल के बिना स्वयं का कार्य नहीं आरंभ करते हैं, वे क्लेश बालक के समान प्रसुप्त कहे जाते हैं ।

भावनात्प्रतिपक्षस्य शिथिलीकृतशक्तयः ।
तनवोऽतिबलाऽपेक्षा योगाऽभ्यासवतो यथा ।।१५।।

प्रतिपक्ष की भावना से यदि क्लेशों की शक्ति शिथिल हो गई है । तो उन क्लेशों को तनु कहा जाता है । जैसे कि योगाभ्यास वाले जीव के क्लेश। उन शिथिल क्लेश को स्वकार्य करने में बहुत बल की अपेक्षा रहती है ।

अन्येनोच्चैर्बलवताऽभिभूतस्वीयशक्तयः ।
तिष्ठन्तो हन्त विच्छिन्ना रागो द्वेषोदये यथा ।।१६।।

दूसरे अत्यन्त बलवान क्लेश से स्वयं की शक्ति अभिभूत हुई ऐसे चित्त में रहे हुए क्लेश विच्छिन्न कहलाते हैं । जैसे कि द्वेष के उदय में राग ।

सर्वेषां सन्निधिं प्राप्ता उदाराः सहकारिणाम् ।
निर्वर्त्तयन्तः स्वं कार्यं यथा व्युत्थानवर्तिनः ।।१७।।

समस्त सहकारी कारण का सानिध्य प्राप्त और कार्य निष्पन्न करने वाले

क्लेश उदार कहलाते हैं । जैसे कि व्युत्थानदशा में रहे जीव के क्लेश ।

अविद्या चास्मिता चैव रागद्वेषौ तथाऽपरौ ।
पञ्चमोऽभिनिवेशश्च क्लेशा एते प्रकीर्तिताः ।।१८।।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा पाँचवा अभिनिवेश ये क्लेश कहे गये हैं ।

विपर्यासाऽऽत्मिकाऽविद्याऽस्मिता दृग्दर्शनैकता ।
रागस्तृष्णा सुखोपाये द्वेषो दुःखाऽङ्गनिन्दनम् ।।१९।।

अविद्या विपर्यास स्वरूप है । पुरुष और दर्शन की एकता अस्मिता हैं। सुख के उपाय में तृष्णा स्वरूप राग है तथा दुःख के कारण की निंदा करना वह द्वेष है ।

विदुषोऽपि तथारुढः सदा स्वरसवृत्तिकः ।
शरीराद्यवियोगस्याऽभिनिवेशोऽभिलाषतः ।।२०।।

विद्वान को भी शरीर आदि के अवियोग के अभिलाष से अभिनिवेश होता है । वह जन्म जन्मातर से आरुढ है तथा हमेशा स्वरसवृत्तिवाला होता है ।

एभ्यः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्ट जन्माऽनुभूतिभाक् ।
तद्विपाकश्च जात्यायुभोगाऽऽख्यः सम्प्रर्वतते ।।२१।।

इन क्लेशों से कर्माशय होता है । दृष्ट और अदृष्ट जन्म में वह अनुभूति का विषय बनता है तथा जाति आयुष्य और भोग नाम का कर्मविपाक प्रवर्तता है ।

परिणामाच्च तापाच्च संस्काराद् द्विविधोऽप्ययम् ।
गुणवृत्तिविरोधाच्च हन्त दुःखमयः स्मृतः ।।२२।।

दोनों प्रकार के कर्मविपाक निश्चित परिणाम के कारण से, ताप से, संस्कार के हेतु से, गुणवृत्ति के विरोध के निमित्त से दुःखमय कहे गये हैं।

इत्थं दृग्दृश्ययोगात्माऽऽविद्यको भवविप्लवः ।
नाशान्नश्यत्यविद्याया इति पातञ्जला जगुः ।।२३।।

इस प्रकार दृग् (पुरुष) और दृश्य (बुद्धि) इन दोनों के योग रूप भवप्रपंच अविद्यानिर्मित हैं । अविद्या के नाश से उसका नाश होता है । ऐसा

पातंजल विद्वान कहते हैं ।

नैतत्साध्वपुमर्थत्वात पुसः कैवल्यसंस्थितेः ।
क्लेशाऽभावेन संयोगाऽजन्मोच्छेदो हि गीयते ।।२४।।

यह पातंजल मत ठीक नहीं है । क्योंकि पुरुष की कैवल्यदशा अपुरुषार्थ रूप बनती हैं । इसका कारण यह है कि क्लेश के अभाव से संयोग का अजन्म ही उच्छेद कहलाता है ।

तात्त्विको नाऽऽत्मनो योगो ह्येकान्ताऽपरिणामिनः ।
कल्पनामात्रमेवं च क्लेशास्तद्धानमप्यहो ।।२५।।

एकांत रूप से अपरिणामी आत्मा को तात्त्विक बुद्धि संयोग नहीं होता है । अहो ! इस प्रकार तो क्लेश और उसका उच्छेद भी कल्पनामात्र ही बन जाएगा ।

नृपस्येवाऽभिधानाद् यः सातबन्धः प्रकीर्तितः ।
अहिशङ्काविषज्ञानाच्चेतरोऽसौ निरर्थकः ।।२६।।

राजा के अभिधान से साताबन्ध और सर्प की शंका होने से विषज्ञान से असाता का बन्ध कहा गया है; वह निरर्थक है ।

पुरुषार्थाय दुःखेऽपि प्रवृत्तेर्ज्ञानदीपतः ।
हानं चरमदुःखस्य क्लेशस्येति तु तार्किकाः ।।२७।।

तार्किक तो इस प्रकार कहते हैं कि, ज्ञानदीपक से पुरुषार्थ निमित्त दुःख में भी प्रवृत्ति होने से चरम दुःखरूप क्लेश का उच्छेद होता है ।

ब्रूते हन्त विना कश्चिददोऽपि न मदोद्धतम् ।
सुखं विना न दुःखार्थं कृतकृत्यस्य हि श्रमः ।।२८।।

इस प्रकार मद से उन्मत व्यक्ति के बिना दूसरा कोई नहीं बोल सकता हैं; क्योंकि सुख बिना दुःख के लिए कोई भी कृतार्थ व्यक्ति निश्चित परिश्रम नहीं करता है ।

चरमत्वं च दुःखत्वव्याप्या जातिर्न जातितः ।
तच्छरीरप्रयोज्यातः साङ्कर्यान्नाऽन्यदर्थवत् ।।२९।।

चरमत्व दुःख व्याप्य जाति नहीं हैं । क्योंकि उस शरीर प्रयोज्य जाति

से सांकर्य आता हैं तथा दूसरा चरमत्व कहने का कोई अर्थ नहीं हैं ।

सुखमुद्दिश्य तद्दुःखनिवृत्या नान्तरीयकम् ।
प्रक्षयः कर्मणामुक्तो युक्तो ज्ञान-क्रियाऽध्वना ।।३०।।

इसलिए दुःख के उच्छेद से साथ जुड़े हुए सुख के उद्देश से ज्ञानावरणीय आदि कर्मो को ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग के द्वारा नष्ट करना वही युक्तिसंगत मोक्षमार्ग है ।

क्लेशाः पापानि कर्माणि बहुभेदानि नो मते ।
योगादेव क्षयस्तेषां न भोगादनवस्थितेः ।।३१।।

हमारे मत में अनेक प्रकार के पाप कर्म क्लेश कहे गये हैं। उनका नाश योग से ही होता हैं । भोग से उसका नाश होता नहीं होता है । क्योंकि वैसा मानने से अनवस्था दोष उपस्थित होता है ।

ततो निरुपमं स्थानमनन्तमुपतिष्ठते ।
भवप्रपञ्चरहितं परमानन्दमेदुरम् ।।३२।।

कर्मस्वरूप क्लेश का उच्छेद होने से भवप्रपंच शून्य, परमानन्द से परिपुष्ट निरुपम और शाश्वत सिद्धशिला नाम के स्थान को साधक प्राप्त करता हैं ।

अथ योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका -१६

शास्त्रस्योपनिषद्योगो योगो मोक्षस्य वर्तनी ।
अपायशमनो योगो योगः कल्याणकारणम् ।।१।।

शास्त्र का रहस्य योग हैं, मोक्ष का मार्ग योग हैं । विघ्नों को शांत करनेवाला योग हैं, कल्याण का कारण योग हैं ।

संसारवृद्धिर्धनिनां पुत्रदारादिना यथा ।
शास्त्रेणाऽपि तथा योगं विना हन्त विपश्चिताम् ।।२।।

जैसे पुत्र पत्नि आदि के द्वारा धनवान व्यक्ति को संसार की वृद्धि होती है । खेद है वैसे ही योग बिना पंडितो को शास्त्र से भी संसार की वृद्धि होती है ।

इहाऽपि लब्धयश्चित्राः परत्र च महोदयः ।
परात्माऽऽयत्तता चैव योगकल्पतरोः फलम् ।।३।।

योग रूप कल्पवृक्ष का यह फल है कि, इस लोक में भी विविध लब्धियां प्रगट होती हैं और परलोक में महान अभ्युदय होता है तथा परमात्मा के अधिन होते हैं ।

योगसिद्धैः श्रुतेष्वस्य बहुधा दर्शितं फलम् ।
दर्श्यते लेशतश्चेतद्यदन्यैरपि दर्शितम् ।।४।।

- योगसिद्ध पुरुषों ने शास्त्रों में अनेक प्रकार के योग के फल बताये हैं । फिर भी यहाँ आंशिक रूप से योग फल हमारे द्वारा कहे गये हैं जो कि अन्य (पातंजल दर्शनकार आदि) के द्वारा भी बताये गये हैं ।

अतीताऽनागतज्ञानं परिणामेषु संयमात् ।
शब्दाऽर्थधीविभागे च सर्वभूतरुतस्य धीः ।।५।।

परिणामो पर संयम करने से अतीत और अनागत विषय का ज्ञान होता है । शब्द, अर्थ और बुद्धि के विभाग में संयम करने से सभी प्राणियों की आवाज का ज्ञान होता है ।

संस्कारे पूर्वजातीनां प्रत्यये परचेतसः ।
शक्तिस्तम्भे तिरोधानं कायरूपस्य संयमात् ।।६।।

संस्कारों पर संयम करने से पूर्वजन्म का स्मरण होता है । दूसरे के मन पर संयम करने से दूसरे के मन का ज्ञान होता है । काया के रूप पर संयम करने से रूपशक्ति का स्तंभन होने पर अदृश्य हुआ जाता है ।

संयमात् कर्मभेदानामरिष्टेभ्योऽपरान्त धीः ।
मैत्र्यादिषु बलान्येषां हस्त्यादीनां बलेषु च ।।७।।

कर्मभेद का संयम करने से अरिष्ट द्वारा मृत्यु का ज्ञान होता है । मैत्री आदि भावना पर संयम करने से मैत्री आदि भावना का बल मिलता है । हाथी आदि के बल पर संयम करने से उसका बल स्वयं में प्रगट होता है ।

सूर्ये च भुवनज्ञानं ताराव्यूहे गतिर्विधौ ।
ध्रुवे च तद्गतेर्नाभिचक्रे व्यूहस्य वर्ष्मणः ।।८।।

सूर्य पर संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है । चंद्र पर संयम करने से तारा व्यूह का ज्ञान होता है । ध्रुव नाम के तारे पर संयम करने से तारों की गति का ज्ञान होता है, नाभिचक्र में संयम करने से शरीर की नाड़ियों के स्थान का ज्ञान होता है ।

क्षुत्तृड्व्ययः कण्ठकूपे कूर्मनाड्यामचापलम् ।
मूर्धज्योतिषि सिद्धानां दर्शनं च प्रकीर्त्तितम् ।।९।।

कंठकूप का संयम करने से भुख-प्यास समाप्त होती है । कूर्मनाड़ी का संयम करने से मन की चंचलता दूर होती है । मूर्धज्योति पर संयम से सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं ऐसा कहा गया है ।

प्रातिभात् सर्वतः संविच्चेतसो हृदये तथा ।
स्वार्थे संयमतः पुंसि भिन्ने भोगात्परार्थकात् ।।१०।।

प्रातिभ ज्ञान के संयम से सर्वतः ज्ञान होता है । हृदय में संयम से चित्त का ज्ञान होता है । परार्थ भोग से भिन्न स्वार्थ में संयम से पुरुष के विषय में ज्ञान होता है ।

समाधिविघ्ना व्युत्थाने सिद्धयः प्रातिभं ततः ।
श्रावणं वेदनाऽऽदर्शाऽऽस्वाद्-वार्ताश्च वित्तयः ।।११।।

स्वार्थ संयम से प्रातिभज्ञान होता हैं । उससे श्रावण, स्पार्शन वेदना, आदर्श (चाक्षुष प्रत्यक्ष) आस्वादन और वार्ता (गन्धसंवेदन) ये ज्ञान उत्पन्न होते

हैं । व्युत्थान दशा में ये सिद्धि स्वरूप हैं । समाधि में तो वे विघ्न ही हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारस्य च वेदनात् ।
चित्तस्य स्यात् परपुरप्रवेशो योगसेविनः ।।१२।।

शरीर बन्ध के कारणों की शिथिलता और चित्त प्रचार का वेदन करने से योगी का चित्त परकाय प्रवेश होता हैं ।

समानस्य जयाद्धामोदानस्याऽबाद्यसङ्गता ।
दिव्यं श्रोत्रं पुनः श्रोत्रव्योम्नोः सम्बन्धसंयमात् ।।१३।।

समान वायु के जय से तेज प्रगट होता हैं । उदान वायु के जय से पानी आदि से असंगपना आता हैं । कान और आकाश के संबंध पर संयम से कान दिव्य होते हैं ।

लघुतुलसमापत्त्या काय-व्योम्नोस्ततोऽम्बरे ।
गतिर्महाविदेहाऽतः प्रकाशाऽऽवरणक्षयः ।।१४।।

काया और आकाश के संबंध पर संयम करने से रुई के समान हल्के होने से आकाश में गति होती है । महाविदेहावृत्ति संयम से प्रकाश आवरण का क्षय होता है ।

स्थूलादिसंयमाद् भूतजयोऽस्मादणिमादिकम् ।
कायसम्पच्च तद्धर्माऽनभिघातश्च जायते ।।१५।।

स्थूल भूत आदि पर संयम से भूत जय होते हैं । जिससे अणिमा आदि लब्धि प्रगट होती है और कायसंपत्ति प्राप्त होती है तथा काया के गुणधर्मों को कुछ भी नुकसान नहीं होता है ।

संयमाद ग्रहणादीनामिन्द्रियाणां जयस्ततः ।
मनोजवो विकरणभावश्च प्रकृतेर्जयः ।।१६।।

ग्रहण आदि के संयम से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है । उससे मनोगति प्राप्त होती है तथा विकरणभाव और प्रकृति की जय प्राप्त होती है ।

स्थितस्य सत्त्व पुरुषाऽन्यताख्यातौ च केवलम् ।
सार्वज्ञ्यं सर्वभावानामधिष्ठातृत्वमेव च ।।१७।।

मात्र प्रकृति और पुरुष की भेद ख्याति में रहे योगी को सर्वज्ञता और

सर्वभाव का अधिष्ठातृत्व प्राप्त होता है ।

स्मृता सिद्धिर्विशोकेयं तद्वैराग्याच्च योगिनः ।
दोषबीजक्षये नूनं कैवल्यमुपदर्शितम् ।।१८।।

ये दोनों सिद्धि विशोका सिद्धि कहलाती हैं । उन पर वैराग्य आने से योगी के दोषों के बीज का क्षय होता है । उससे अवश्य कैवल्य होता है ऐसा शास्त्रकार कहते हैं ।

असङ्गश्चाऽस्मयश्चैव स्थितावुपनिमन्त्रणे ।
बीजं पुनरनिष्टस्य प्रसङ्गः स्यात् किलाऽन्यथा ।।१९।।

भोग का उपनिमंत्रण होने पर असंग और अस्मय ये दोनों स्वरूपस्थिरता में कारण हैं । अन्यथा निश्चित पुनः अनिष्ट का प्रसंग आएगा ।

स्यात् क्षणक्रमसम्बन्धसंयमाद्यद्विवेकजम् ।
ज्ञानं जात्यादिभिस्तच्च तुल्ययोः प्रतिपत्तिकृत् ।।२०।।

क्षण के क्रम के सम्बन्ध पर संयम से विवेकजन्य ज्ञान प्राप्त होता हैं। वह ज्ञान जाति आदि से समान पदार्थों में भेद प्रतीति को करवाता हैं ।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयाऽक्रमम् ।
शुद्धिसाम्येन कैवल्यं ततः पुरुष-सत्त्वयोः ।।२१।।

तारक ज्ञान सर्व विषयक है । उसमें सभी प्रकार के विषय का क्रम नहीं होता । उस तारक ज्ञान से पुरुष और प्रकृति की शुद्धि की साम्यता होने से कैवल्य होता है ।

इह सिद्धिषु वैचित्र्ये बीजं कर्मक्षयादिकम् ।
संयमश्चाऽत्र सदसत्प्रवृत्तिविनिवृत्तितः ।।२२।।

इन सिद्धियों में रही विविधता में कर्म का क्षय-उपशम आदि कारण है और संयम सत्प्रवृत्ति तथा असद्निवृत्ति से है ।

प्रायश्चित्तं पुनर्योगः प्राग्जन्मकृतकर्मणाम् ।
अब्धीनां निश्चयादन्तः कोटाकोटिस्थितेः किल ।।२३।।

पूर्व जन्म में किये पाप आदि का प्रायश्चित भी योग है । निश्चित अतः कोटाकोटी सागरोपम की स्थिति का निश्चय नय से सद्भाव होता है ।

निकाचितानामपि यः कर्मणां तपसा क्षयः ।
सोऽभिप्रेत्योत्तमं योगमपूर्वकरणोदयम् ।।२४।।

निकाचित कर्म का भी तप से जो क्षय होता है । वह उत्तम अपूर्वकरण के उदलवाला धर्म संन्यास योग की अपेक्षा कहा गया हैं ।

अपि क्रूराणि कर्माणि क्षणाद्योगः क्षिणोति हि ।
ज्वलनो ज्वाल्यत्येव कुटिलानपि पादपान् ।।२५।।

क्रूर कर्मो को भी क्षण में योग नष्ट कर देता है । निश्चित ही कुटिल वृक्षों को भी अग्नि जलाती ही है ।

दृढप्रहारिशरणं चिलातीपुत्ररक्षकः ।
अपि पापकृतां योगः पक्षपातान्न शङ्कते ।।२६।।

योग दृढप्रहारि का शरण था, योग चिलाती पुत्र का रक्षण करनेवाला था । निश्चित ही पाप करनेवाले जीवों में भी पक्षपात से योग शंका नहीं करता है ।

अहर्निशमपि ध्यातं योग इत्यक्षरद्वयम् ।
अप्रवेशाय पापानां ध्रुवं वज्राऽर्गलायते ।।२७।।

'योग' इस प्रकार दो शब्द का भी रात-दिन ध्यान करने में आए तो आत्मा में पापकर्म के प्रवेश न करने के लिए वज्र की सांकल का कार्य करता है ।

आजीविकादिनाऽर्थेन योगस्य च विडम्बना ।
पवनाऽभिमुखस्थस्य ज्वलनज्वालनोपमा ।।२८।।

आजीविका आदि प्रयोजन से योग की विडंबना करते हैं, वे तो निश्चित ही हवा के सन्मुख रहे मनुष्य की अग्नि को जलाने के समान क्रिया है ।

योगस्पृहाऽपि संसारतापव्ययतपात्ययः ।
महोदयसरस्तीरसमीरलहरीलवः ।।२९।।

योग की स्पृहा भी संसार के ताप को दूर करने के लिए घने बादलों के आगमन के समान है । स्वर्ग आदि महोदय रूप सरोवर के किनारे रही शीतल लहरो के आंशिक स्पर्श के समान है ।

योगाऽनुग्राहको योऽन्यैः परमेश्वर इष्यते ।
अचिन्त्यपुण्यप्राग्भारयोगाऽनुग्राह्य एव सः ।।३०।।

नैयायिक आदि अन्य दर्शिनिक योग के उपकारक के रूप में परमेश्वर की कल्पना करते हैं । वे कल्पित परमात्मा ही अचिंत्य पुण्य के धनी जिनेश्वर भगवन्त द्वारा बताये गये योगतत्त्व से अनुग्रह प्राप्त करने की आवश्यकता रखते हैं ।

भरतो भरतक्षोणीं भुञ्जानोऽपि महामतिः ।
तत्कालं योगमाहात्म्याद् बुभुजे केवलश्रियम् ।।३१।।

भरतक्षेत्र के चक्रवती के अधिकार से भोगों को भोगनेवाले महाप्राज्ञ भरत राजा ने भी योग के महात्म्य से केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को अनुभव किया ।

पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि परमानन्दनन्दिता ।
योगप्रभावतः प्राप मरुदेवा परं पदम् ।।३२।।

पूर्व में कभी धर्म को नहीं प्राप्त करने पर भी योग के प्रभाव से परमानन्द से आनन्दित हुए मरुदेवी माता ने मोक्ष पद को प्राप्त किया ।

भिक्षुद्वात्रिंशिका - २७

नित्यं चेतः समाधाय यो निष्क्रम्य गुरुदिते ।
प्रत्यापिबति नो वान्तमवशः कुटिलभ्रूवाम् ।।१।।

जो संसार से निकलकर गुरु के वचन में हमेशा मन का प्रणिधान करके, स्त्री के वश हुए विना वमन किये भोग सुख को पुनः चखते नहीं वे भिक्षु कहलाते हैं ।

पृथिव्यादींश्च षट्कायान् सुखेच्छूनसुखद्विषः ।
गणयित्वाऽऽत्मतुल्यान् यो महाव्रतरतो भवेत् ।।२।।

सुख के इच्छुक और दुःख के द्वेषी ऐसे पृथ्वी आदि षट्काय जीवों को आत्म तुल्य मानकर जो महाव्रत में रत हैं वे भिक्षु कहलाते हैं ।

औद्देशिकं न भुञ्जीत त्रसस्थावरघातजम् ।
बुद्धोक्तध्रुवयोगी यः कषायांश्चतुरो वमेत् ।।३।।

त्रस और स्थावर जीव के घात से बने औद्देशिक पिंड को नहीं वापरते हैं । जिनाज्ञा के नित्य आराधक तथा चारों कषाय का जो वमन करे वह भिक्षु कहलाते हैं ।

निर्जातरूपजतो गृहियोगं च वर्जयेत् ।
सम्यग्दृष्टिः सदाऽमूढस्तपः संयमबुद्धिषु ।।४।।

जो सोना चांदी नहीं रखते हो, गृहस्थ संबंध को छोड़ते हैं । सम्यग्दृष्टि हो तथा तप-संयम की बुद्धि में हमेशा अमुढ़ हो वह भिक्षु कहलाते हैं ।

न यश्चाऽऽगामिनेऽर्थाय सन्निधत्तेऽशनादिकम् ।
साधर्मिकान्निमन्त्र्यैव भुक्त्वा स्वध्यायकृच्च यः ।।५।।

जो भविष्य के प्रयोजन के लिए भोजन आदि को संग्रहीत करके नहीं रखते हो तथा साधर्मिक को निमंत्रण देकर ही गौचरी वापरते हैं, तथा गौचरी वापर के जो स्वाध्याय करते हैं वह भिक्षु कहलाते हैं ।

न कुप्यति कथायां यो नाऽप्युच्चैः कलहायते ।
उचितेऽनादरो यस्य नादरोनुचितेऽपि च ।।६।।

बातचित अथवा व्याख्यान में जो क्रोधित न हो जो उँचे से कलह न

करे तथा जिसको उचित का अनादर न हो तथा अनुचित का आदर न हो वह साधु कहलाते हैं ।

आक्रोशादीन्महात्मा यः सहते ग्रामकण्टकान् ।
न बिभेति भयेभ्यश्च स्मशाने प्रतिमास्थितः ।।७।।

इन्द्रियों के समुह के लिए कांटे के समान आक्रोश आदि को जो सहन करते हैं तथा स्मशान में कार्योत्सर्ग ध्यान में स्थिर रहकर भयों से नहीं डरते है वह भिक्षु कहलाते हैं ।

आक्रुष्टो वा हतो वाऽपि लुषितो वा क्षमासमः ।
व्युत्सृष्टत्यक्तदेहो योऽनिदानश्चाऽकुतूहलः ।।८।।

आक्रोश होने पर अथवा मारने पर अथवा काटने पर जो पृथ्वी के समान स्वस्थ रहते हैं और शरीर का त्याग और विसर्जन करते हैं, जो नियाणा और कौतुहल नहीं करते हैं वह साधु कहलाते हैं ।

यश्च निर्ममभावेन काये दोषैरुपप्लुते ।
जानाति पुद्गलाऽन्यस्य न मे किञ्चिदुपप्लुतम् ।।९।।

शरीर में ज्वर आदि का दोष होने पर जो निर्ममत्व भाव से 'देहादि पुद्गल से मैं भिन्न हूँ इसलिए मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ता हैं' ऐसा जानता है वह साधु कहलाता है ।

तथा हि मिथिलानाथो मुमुक्षुर्निर्ममः पुरा ।
बभाण मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते ।।१०।।

उसी प्रकार जैसे कि, पूर्व में मिथिला नगरी का राजा मोक्ष की झंखना होने के कारण ममत्त्व शून्य बने तब बोले कि मिथिला जले इसमें मेरा तो कुछ जलता नहीं है ।

हस्तेन चाङङ्घ्रिणा वाचा संयतो विजितेन्द्रियः ।
अध्यात्मध्याननिरतः सूत्रार्थं यश्च चिन्तयेत् ।।११।।

हाथ पैर और वाणी से संयम को धारण करनेवाले, इन्द्रियविजेता, अध्यात्म और ध्यान में निमग्न बने जो साधक सूत्र और अर्थ का चिंतन करते हैं वे साधु कहलाते हैं ।

अज्ञातोच्छं चरन् शुद्धमलोलोऽरसगृद्धिमान् ।
ऋद्धि-सत्कार-पूजाश्च जीवितं यो न काङ्क्षति ।।१२।।

लोलुपता बिना के तथा रसगृद्धि रहित जो साधक शुद्ध अज्ञात पिंड की गवेषणा करता है तथा ऋद्धि, सत्कार, पूजा और जीवितव्य की जो इच्छा नहीं करता है वह साधु कहलाता है ।

यो न कोपकरं ब्रूयात् कुशीलं न वदेत्परम् ।
प्रत्येकं पुण्यपापज्ञो जात्यादिमदवर्जितः ।।१३।।

जो दूसरों को क्रोधकरनेवाले वचन नहीं बोलता है, दूसरों को कुशील नहीं कहता है, प्रत्येक जीव में पुण्य और पाप की स्वतन्त्रता को जाननेवाला तथा जो जाति आदि के मद से रहित हो वह साधु कहलाता है ।

प्रवेदयत्यार्यपदं परं स्थापयति स्थितः ।
धर्मचेष्टां कुशीलानां परित्यजति यः पुनः ।।१४।।

जो आचार्य पद को बतलावे, धर्म में स्थिर रहे तथा शिथिलाचारी की चेष्टा को जो छोड़ता है वह साधु कहलाता है ।

उद्वेगो हसितं शोको रुदितं क्रन्दितं तथा ।
यस्य नाऽस्ति जुगुप्सा च क्रीडा चाऽपि कदाचन ।।१५।।

जिसको उद्वेग, हास्य, शोक, रुदन, आक्रन्द, जुगुप्सा तथा क्रीड़ा कभी भी नहीं होती है वह भाव साधु कहलाता है ।

इदं शरीरमशुचि शुक्रशोणितसम्भवम् ।
अशाश्वतं च मत्वा यः शाश्वतार्थं प्रवर्त्तते ।।१६।।

शुक्र और रक्त से उत्पन्न हुआ यह शरीर अशुचि और विनाशी है । इस प्रकार मानकर जो मोक्ष के लिए प्रवृत्ति करता है वह भाव साधु कहलाता है ।

स भावभिक्षुर्भेत्तृत्वादागमस्योपयोगतः ।
भेदनेनोग्रतपसा भेद्यस्याऽशुभकर्मणः ।।१७।।

उपरोक्त साधु आगम के उपयोग से तपस्या रूपी भेदने के साधन से भेदने योग्य अशुभ कर्मों का भेद करते हैं ।

भिक्षामात्रेण वा भिक्षुर्यतमानो यतिर्भवेत् ।
भवक्षयाद् भवान्तश्च चरकः संयमं चरन् ।।१८।।

अथवा भिक्षा मात्र से भिक्षु कहलाता है । यतना करने से वह यति कहलाता है । संसार का क्षय करने से वह भवान्त कहलाता है । संयम का आचरण करने से चरक कहलाता है ।

क्षपकः क्षपयन् पापं तपस्वी च तपःश्रिया ।
भिक्षुशब्दनिरुक्तस्य भेदाः खल्वर्थतो ह्यमी ।।१९।।

पाप को खपाए वह क्षपक । तपलक्ष्मी से शोभे वह तपस्वी। भिक्षु शब्द की निरुक्ति का विषय बननेवाले साधु के ही ये सभी अर्थ आश्रय से भेद हैं ।

तीर्णस्तायी व्रती द्रव्यं क्षान्तो दान्तो मुनिर्यतिः ।
ऋजुः प्रज्ञापको भिक्षुर्विद्वान् विरत-तापसौ ।।२०।।

तीर्ण, तायी, व्रती, द्रव्यं, क्षांत, दांत, मुनि, यति, ऋजु, प्रज्ञापक भिक्षु विद्वान्, विरत, तापस ये साधु के नाम हैं ।

बुद्धः प्रव्रजितो मुक्तोऽनगारश्चरकस्तथा ।
पाखण्डी ब्राह्मणश्चैव परिव्राजकसंयतौ ।।२१।।

बुद्ध, प्रव्रजित, मुक्त, अणगार, चरक, पाखण्डी, ब्राह्मण, परिव्राजक तथा संयत ये सभी साधु के पर्यायवाची शब्द हैं ।

साधुर्लूक्षश्च तीरार्थी निर्ग्रन्थः श्रमणस्तथा ।
इत्यादीन्यभिधानानि गुणभाजां महात्मनाम् ।।२२।।

साधु, लूक्ष, तीरार्थी, निर्ग्रन्थ तथा श्रमण इत्यादि गुणवान महात्मा के नाम हैं ।

संवेगो विषयत्यागः सुशीलानां च सङ्गतिः ।
ज्ञान-दर्शन-चारित्राऽऽराधना विनयस्तपः ।।२३।।

१. संवेग, २. विषयत्याग, ३. सुशील की संगति, ४. ज्ञान, ५. दर्शन, ६. चारित्र, ७. आराधना, ८. विनय और ९. तप ये साधु के लक्षण हैं ।

क्षान्तिर्मार्दवमृजुता तितिक्षा मुक्त्यदीनते ।
आवश्यकविशुद्धिश्च भिक्षोर्लिङ्गान्यकीर्त्तयन् ।।२४।।

१०. क्षमा, ११. मार्दव, १२. ऋजुता, १३. तितिक्षा, १४. मुक्ति, १५. अदीनता और १६. आवश्यक शुद्धि ये भाव भिक्षु के लक्षण गणधर ने बताये हैं ।

एतद्गुणान्वितो भिक्षुर्न भिन्नस्तु विपर्ययात् ।
स्वर्णं कषादिशुद्धं चेद्युक्तिस्वर्णं न तत्पुनः ।।२५।।

उपरोक्त गुणों से युक्त भाव भिक्षु होता है, किंतु उसके अतिरिक्त भाव भिक्षु नहीं होता है । सोना कषादि से शुद्ध हो तो ही सोना बनता है । नकली सोना, सोना नहीं होता है ।

षट्कायभिद् गृहं कुर्याद् भुञ्जीतोद्देशिकं च यः ।
पिबेत् प्रत्यक्षमप्कायं स कथं भिक्खुरुच्यते ।।२६।।

जो षड्जीवनिकाय की विराधना करता हो, घर बनाता हो, ओद्देशिक (दोषित गौचरी) वापरता हो, प्रत्यक्ष ही सचित्त पानी वापरता हो वह किस प्रकार साधु कहलाता हैं ।

गृहिणोऽपि सदारम्भा याचमाना ऋजुं जनम् ।
दीनाऽन्धकृपणा ये च ते खलु द्रव्यभिक्षवः ।।२७।।

सदाआरंभ करनेवाला जो गृहस्थ भी सरल लोगों के पास याचना करता हो तथा जो गरीब, अन्ध और कृपण लोग याचना करते हैं । वे निश्चय से द्रव्यभिक्षु कहलाते हैं ।

त्रसस्थावरहन्तारो नित्यमब्रह्मचारिणः ।
मिथ्यादृशः सञ्चयिनस्तथा सचित्तभोजिनः ।।२८।।

जो हमेशा त्रस और स्थावर जीवों की हत्या करता हो, ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता हो, मिथ्यादृष्टि हो, मांगकर एकत्रित करता हो तथा सचित्तभोजी हो वह द्रव्य भिक्षु कहलाता है ।

विशुद्धतपसोऽभावादज्ञानध्वस्तशक्तयः ।
त्रिधा पापेषु निरता हन्त त्यक्तगृहा अपि ।।२९।।

विशुद्ध तप न होने के कारण अज्ञान से जिसकी शक्ति का नाश हुआ है और घर का त्याग करने पर भी मन-वचन-काया से जो पाप में आसक्त है वह याचक भी द्रव्य भिक्षु कहलाता है ।

वर्धकिर्द्रव्यतो भिक्षुरुच्यते दारुभेदनात् ।
द्रव्यभिक्षणशीलत्वाद् ब्राह्मणादिश्च विश्रुतः ।।३०।।

लकड़ी को भेदने से सुतार द्रव्य भिक्षु है तथा द्रव्य से भिक्षा मांगने का स्वभाव होने से ब्राह्मण द्रव्य भिक्षु के रूप में प्रसिद्ध है ।

प्रधानद्रव्यभिक्षुश्च शुद्धः संविग्नपाक्षिकः ।
सम्पूर्य प्रतिमां दीक्षां गृही यो वा ग्रहीष्यति ।।३१।।

शुद्ध संविग्नपाक्षिक प्रधान द्रव्य भिक्षु है अथवा जो गृहस्थ श्रावक की ग्यारवीं प्रतिमा को पूर्ण करके दीक्षा ग्रहण करनेवाला होता है वह प्रधान द्रव्यभिक्षु कहलाता है ।

केचिदुक्ता अनन्तेषु भावाभिक्षोर्गुणाः पुनः ।
भाव्यमाना अमी सम्यक् परमानन्दसम्पदे ।।३२।।

भावभिक्षु के गुण अनन्त हैं । उनमें से कितने ही गुण यहाँ कहे हैं। उनका अच्छे प्रकार से भावना करने से परमानन्द स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

दीक्षाद्वात्रिंशिका - २८

दीक्षा हि श्रेयसो दानादशिवक्षपणात्तथा ।
सा ज्ञानिनो नियोगेन ज्ञानिनिश्रावतोऽथवा ।।१।।

कल्याण का दान करने से और अकल्याण का क्षय करने से निश्चित दीक्षा कहलाती हैं । वह दीक्षा नियम से ज्ञानी को अथवा ज्ञानी की निश्रावाले को होती हैं ।

एकः स्यादिह चक्षुष्मानन्यस्तदनुवृत्तिमान् ।
प्राप्नुतो युगपद् ग्रामं गन्तव्यं यदुभावपि ।।२।।

इस जगत में एक दृष्टिवाला होता हैं और दूसरा आंख से रहित व्यक्ति उसका अनुशरण करनेवाला होता है । वे दोनो साथ में ही प्राप्तव्य गाँव को प्राप्त करते हैं ।

यस्य क्रियासु सामर्थ्यं स्यात्सम्यग्गुरुरागतः ।
योग्यता तस्य दीक्षायामपि माषतुषाऽऽकृतेः ।।३।।

जिसने गुरु के प्रति सम्यक् राग से सदनुष्ठान में सामर्थ्य प्राप्त किया हो ऐसे माषतुष मुनि जैसे जीव के लिए दीक्षा की योग्यता मान्य हैं ।

देया दीक्षाऽस्य विधिना नामादिन्यासपूर्वकम् ।
हन्ताऽनुपप्लवश्चाऽयं सम्प्रदायाऽनुसारतः ।।४।।

- दीक्षा योग्य जीव को नाम आदि न्यासपूर्वक विधि के द्वारा दीक्षा देना चाहिए नाम आदि न्यास निश्चित ही सम्प्रदाय के द्वारा किया गया निर्विघ्न सम्पन्न होता है ।

नाम्नाऽन्वर्थेन कीर्तिः स्यात् स्थापनाऽऽरोग्यकारिणी ।
द्रव्येण च व्रतस्थैर्यं भावः सत्पददीपनः ।।५।।

सार्थक नाम से कीर्ति होती है । स्थापना आरोग्य करनेवाली होती है। द्रव्य से व्रत में स्थिरता होती है तथा भाव सुंदर पद का प्रकाशन करता है।

इहाऽऽदौ वचनक्षान्तिर्धर्मक्षान्तिरनन्तरम् ।
अनुष्ठानं च वचनानुष्ठानात् स्यादसङ्गकम् ।।६।।

दीक्षा में सर्वप्रथम वचनक्षमा प्रगट होती है । पश्चात् धर्मक्षमा आती है।

प्रथम वचननुष्ठान आता है उससे कालान्तर में असंग अनुष्ठान आता है ।

उपकाराऽपकाराभ्यां विपाकाद्वचनात्तथा ।
धर्माच्च समये क्षान्तिः पञ्चधा हि प्रकीर्त्तिता ।।७।।

उपकार, अपकार, विपाक, जिनवचन और धर्म के आश्रय से शास्त्र में निश्चित पाँच प्रकार की क्षमा बताई गई हैं ।

प्रीति-भक्ति-वचोऽसङ्गैरनुष्ठानं चतुर्विधम् ।
आद्यद्वये क्षमास्तिस्रोऽन्तिमे द्वे चाऽन्तिमद्वये ।।८।।

प्रीति-भक्ति-वचन-असंग ये चार प्रकार के अनुष्ठान है । प्रथम दो अनुष्ठान में प्रथम तीन प्रकार की क्षमा हैं । अंतिम दो अनुष्ठान में अंतिम दो क्षमा आती हैं ।

सूक्ष्माश्च विरलाश्चैवाऽतिचारा वचनोदये ।
स्थूलाश्चैव घनाश्चैव ततः पूर्वममी पुनः ।।९।।

वचनानुष्ठान की प्राप्ति होने पर अतिचार सूक्ष्म और विरल बनते हैं । इसके पूर्व तो ये अतिचार स्थूल और बहुत होते हैं ।

ततो निरतिचारेण धर्मक्षान्त्यादिना किल ।
सर्वं संवत्सरादूर्ध्वं शुक्लमेवोपजायते ।।१०।।

उसके पश्चात् निरतिचार धर्मक्षमा आदि से एक वर्ष बाद निश्चित सभी दश प्रकार का यतिधर्म शुक्ल हो जाता है ।

मासादौ व्यन्तरादीनां तेलोलेश्याव्यतिक्रमः ।
पर्याये युज्यते चेत्थं गुणश्रेणिप्रवृद्धितः ।।११।।

मास आदि की पर्याय होने पर व्यंतर आदि की तेजोलेश्या का अतिक्रमण साधु करता हैं । यह बात उपरोक्त प्रकार से गुणश्रेणी की वृद्धि से संगत होती हैं ।

दिनानि पक्षा मासा वा गण्यन्ते शरदोऽपि च ।
नाऽस्यां गुणाऽविघातस्य गण्यतेऽवसरः पुनः ।।१२।।

दिन, पक्ष और मास अथवा वर्ष भी, तेजोलेश्या की वृद्धि में अथवा दीक्षा पर्याय में गिनाते नहीं हैं । किंतु गुण का नाश नहीं करे उसका समय की

यहाँ गिनती होती है ।

नैहिकाऽर्थानुरागेण यस्यां पापविषव्ययः ।
वसन्तनृपचेष्टेव सा दीक्षाऽनर्थकारिणी ।।१३।।

इस लोक के प्रयोजन के राग से यदि दीक्षा में पापरूप जहर का नाश नहीं होता है तो वह दीक्षा तो होली के राजा की प्रवृत्ति के समान अनर्थकारी है ।

इन्द्रियाणां कषायाणां गृह्यते मुण्डनोत्तरम् ।
या शिरोमुण्डनव्यङ्ग्या तां सद्दीक्षां प्रचक्षते ।।१४।।

इन्द्रिय और कषायों का मुण्डन के पश्चात् मस्तक मुण्डन विधि से जो दीक्षा होती है उसको शास्त्रकार सद्दीक्षा कहते हैं ।

विहाय पूर्वसंयोगमस्यामुपशमं व्रजन् ।
मनाक्कायं प्रकर्षेण निश्चयेन च पीडयेत् ।।१५।।

भाव दीक्षा में तो साधु पूर्व संयोग को छोड़कर उपशम करता हुआ शरीर को थोड़ा और बाद में प्रकर्ष से दमन करता है ।

वीराणां दुश्चरः पन्था एषोऽनागमगामिनाम् ।
आदानीयाऽभिधानानां भिन्दतां स्वसमुच्छ्रयम् ।।१६।।

स्वयं के शरीर को भेदनेवाला जिसका नाम आदरनीय है, ऐसे वीर पुरुष आगम का अनुशरण न करे तो उसके लिए यह दीक्षा का मार्ग दुष्कर है ।

शरीरणैव युध्यन्ते दीक्षापरिणातौ बुधाः ।
दुर्लभं वैरिणं प्राप्य व्यावृत्ता बाह्ययुद्धतः ।।१७।।

दीक्षा की परिणति आने पर प्राज्ञ जीव शरीर के साथ ही युद्ध करता हैं । क्योंकि यह शरीर आत्म का शत्रु है और प्राप्त होना दुलर्भ हैं । इसलिए दुर्लभ वैरी को प्राप्त कर बाह्य युद्ध से पीछे फिरे साधु शरीर के साथ ही युद्ध करते हैं ।

सर्वो यदर्थमारम्भः क्रियतेऽनन्त दुःखकृत् ।
सर्पलालनमङ्गस्य पालनं तस्य वैरिणः ।।१८।।

जिस शरीर के लिए अनन्त दुःखदायी समस्त हिंसा की जाती है । उस

वैरी शरीर का पालन करना वह सर्प के पालन करने के समान है ।

शरीराद्यनुरागस्तु न गतो यस्य तत्त्वतः ।
तेषामेकाकिभावोऽपि क्रोधादिनियतः स्मृतः ।।१९।।

जिस जीव का शरीर आदि से अनुराग नहीं गया है वैसे जीव का एकाकीभाव भी परमार्थ से क्रोधादि से व्याप्त है- ऐसा शास्त्रों में सुना गया हैं।

नन्वेवं तं विना साधोः कथं भिक्षाटनाद्यपि ।
न, तस्य मोहाऽजन्यत्वादसङ्गप्रतिपत्तितः ।।२०।।

यदि साधु देहाध्यास से मुक्त हो तो देह आदि के अनुराग बिना साधु को भिक्षाटन आदि भी किस प्रकार संगत हो, इस प्रकार की शंका नहीं करना; क्योंकि असंगदशा का स्वीकार करने से भावसाधु का भिक्षाटन आदि मोहजन्य नहीं है ।

ससङ्गप्रतिपत्तिर्हि ममतावासानात्मिका ।
असङ्गप्रतिपत्तिश्च मुक्तिवाच्छाऽनुरोधिनी ।।२१।।

ससंग प्रतिपत्ति निश्चित ममता की वासना रूप हैं और असंग प्रतिपत्ति मोक्ष की इच्छा को अनुशरण करनेवाली है ।

अनादिकालाऽनुगता महती सङ्गवासना ।
तत्त्वज्ञानाऽनुगतया दीक्षयैव निरस्यते ।।२२।।

अनादि काल से चली आ रही संगवासना अत्यन्त बलवान हैं। तत्त्वज्ञान से अनुगत ऐसी दीक्षा से संगवासना दूर होती है ।

यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च ।
अत एव च तस्यैव दीक्षा सामायिकात्मिका ।।२३।।

इसलिए जो त्रस और स्थावर सभी जीवों में समान बुद्धिवाले हो उसकी ही दीक्षा सामायिक रूप है ।

नाऽरत्यानन्दयोरस्यामवकाशः कदाचन ।
प्रचारो भानुमत्यभ्रे न तमस्तारकत्विषोः ।।२४।।

दीक्षा में अरति अथवा आनन्द का कही भी अवकाश नहीं हैं । निश्चित ही सुर्य से शोभित आकाश में अंधकार अथवा तारे की कांति के प्रचार का

अवकाश नहीं रहता हैं ।

शुद्धोपयोगरूपेयमित्थं च व्यवतिष्ठते ।
व्यवहारेऽपि नैवाऽस्या व्युच्छेदो वासनात्मना ।।२५।।

इस प्रकार दोषों के अभाव से यह दीक्षा शुद्ध उपयोग रूप है । व्यवहार के समय भी संस्कार रूप दीक्षा का उच्छेद नहीं होता हैं ।

फले न तुल्यकक्षत्वं शुभ-शुद्धोपयोगयोः ।
येषामन्त्यक्षणे तेषां शैलेश्यामेव विश्रमः ।।२६।।

शुद्ध उपयोग और शुभ उपयोग फल की अपेक्षा से जिन के मत में समान कक्षावाले नहीं है उनको तो अंतिम क्षण स्वरूप शैलेशी अवस्था में ही विश्राम करना पड़ेगा ।

अध्यात्मादिकयोगानां ध्यानेनोपक्षयो यदि ।
हन्त वृत्तिक्षयेण स्यात्तदा तस्याप्युपक्षयः ।।२७।।

यदि अध्यात्म आदि योगों को ध्यान द्वारा उपक्षय (कार्यरूप परिणाम) मानने में आए तो खेद की बात हैं कि वृत्तिसंचय नाम के पाँचवें योग द्वारा ध्यान आदि भी उपक्षीण (कार्यरूप परिणाम) होगा ।

व्यवहारेऽपि च ध्यानमक्षतप्रसरं सदा ।
मनोवाक्काययोगानां सुव्यापारस्य तत्त्वतः ।।२८।।

व्यवहार में भी सदा ध्यान का प्रसार अखंडित है । क्योंकि मनयोग, वचनयोग और काययोग की सुदृढ़ प्रवृत्ति ही ध्यान स्वरूप है ।

शुभयोगं प्रतीत्याऽस्यामनारम्भित्वमागमे ।
व्यवस्थितमितश्चांऽशात् स्वभावसमवस्थितिः ।।२९।।

भावदीक्षा में शुभयोग के आश्रय से आगम में अनारंभिता व्यवस्थापित की गई हैं । इस अंश की अपेक्षा से स्वभाव में अवस्थान संगत है ।

व्युत्थानं व्यवहारे चैन्न ध्यानाऽप्रतिबन्धतः ।
स्थितं ध्यानान्तराऽऽरम्भ एकध्यानान्तरं पुनः ।।३०।।

व्यवहार में व्युत्थान (रुकावट) होता है ऐसा नहीं कहना, क्योंकि उससे ध्यान का प्रतिरोध नहीं होता है । एक ध्यान के पश्चाद् दूसरे ध्यान के आरंभ

से प्रतिबंध नहीं होता हैं - ऐसा सिद्ध होता है ।

विचित्रत्वमनालोच्य बकुशत्वादिना श्रुतम् ।
दीक्षाशुद्धैकरुपेण वृथा भ्रान्तं दिगम्बरैः ।।३१।।

बकुशत्व आदि रूप सुना हुआ दीक्षा के विविध स्वरूप विचारे बिना दीक्षा के एक स्वरूप से दिगम्बर व्यर्थ ही भ्रमणा के भोग बने ।

चित्रा क्रियात्मना चेयमेका सामायिकात्मना ।
तस्मात् समुच्चयेनाऽऽर्यैः परमानन्दकृन्मता ।।३२।।

क्रिया रूप दीक्षा विविध प्रकार की हैं । सामायिक रूप दीक्षा एक प्रकार की है । इसलिए ज्ञान क्रिया के समुच्चय से भावदीक्षा परमानन्द (मोक्ष) को देनेवाली है । इस प्रकार भावदीक्षा शिष्ट पुरुष को मान्य हैं ।

विनय द्वात्रिंशिका - २९

कर्मणां द्राग्विनयनाद्विनयो विदुषां मतः ।
अपवर्गफलाऽऽढ्यस्य मूलं धर्मतरोरयम् ।।१।।

कर्मों को शीघ्रता से दूर करने से विनय विद्वानों को मान्य है । मोक्ष रूप फल से पूर्ण धर्मवृक्ष का मुल विनय है ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपोभिरूपचारतः ।
अयं च पञ्चधा भिन्नो दर्शितो मुनिपुङ्गवैः ।।२।।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और उपचार से यह विनय पाँच भेदवाला है । ऐसा श्रेष्ठ मुनियों ने बताया हैं ।

प्रतिरूपेण योगेन तथाऽनाशातनात्मना ।
उपचारो द्विधा तत्राऽऽदिमो योगत्रयात् त्रिधा ।।३।।

उचित योग से तथा आशातना के वर्जन से उपचार विनय दो प्रकार का होता है । उसमें उचित योग रूप उपचार विनय के मन-वचन-काया के भेद से तीन भेद हैं ।

अभिग्रहाऽऽसनत्यागावभ्युत्थानाऽञ्जलिग्रहौ ।
कृतिकर्म च शुश्रूषा गतिः पश्चाच्च सम्मुखम् ।।४।।

१. अभिग्रह, २. आसन त्याग, ३. अभ्युत्थान, ४. अंजली करना, ५. वंदन, ६. शुश्रुषा, ७. पश्चाद्गमन और ८. सम्मुख गति ।

कायिकोऽष्टविधश्चाऽयं वाचिकश्च चतुर्विधः ।
हितं मितं चाऽपरुषं ब्रुवतोऽनुविचिन्त्य च ।।५।।

इस प्रकार कायिक उपचार विनय आठ प्रकार का है तथा वाचिक विनय चार प्रकार का है । १. हितकारी बोलना, २. परिमित बोलना, ३. कठोर नहीं बोलना और ४. विचार के बोलना ।

मानसश्च द्विधा शुद्धप्रवृत्याऽसन्निरोधतः ।
छद्मस्थानामयं प्रायः सकलोऽन्याऽनुवृत्तितः ।।६।।

मानस विनय दो प्रकार का है- १. शुद्ध प्रवृत्ति करने से और २. बुरी प्रवृत्ति को रोकने से । छद्मस्थ जीवों को ये सभी विनय के प्रकार प्रायः दूसरे

को अनुसरने से संभव हैं ।

अर्हत्सिद्ध-कुलाऽऽचार्योपाध्याय-स्थविरेषु च ।
गण-सङ्घ-क्रिया-धर्म-ज्ञान-ज्ञानि-गणिष्वपि ।।७।।

अरिहन्त, सिद्ध, कुल आचार्य, उपाध्याय स्थविर, गण, संघ, क्रिया धर्म, ज्ञान, ज्ञानी और इस प्रकार कुल तेरह पर (आगे बताया अनुसार चार-चार प्रकार का विनय करना ।)

अनाशातनया भक्त्या बहुमानेन वर्णनात् ।
द्विपञ्चाशद्विधः प्रोक्तो द्वितीयश्चौपचारिकः ।।८।।

उपर के तेरह स्थानों की १. आशातना छोड़ने से, २. भक्ति करने से, ३. बहुमान से और ४. प्रशंसा से बावन प्रकार का दूसरा औपचारिक विनय कहा गया है ।

एकस्याऽऽशातनाऽप्यत्र सर्वेषामेव तत्त्वतः ।
अन्योऽन्यमनुविद्धा हि तेषु ज्ञानादयो गुणाः ।।९।।

यहाँ एक की भी आशातना करने से परमार्थ से सभी की आशातना होती है । क्योंकि अरिहंत आदि में ज्ञानादि गुण परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं ।

नूनमल्पश्रुतस्याऽपि गुरोराचारशालिनः ।
हीलना भस्मसात्कुर्याद् गुणं वह्निरिवेन्धनम् ।।१०।।

निश्चित अल्पज्ञानवाले भी आचार संपन्न गुरु की आशातना गुण को उसी प्रकार से भस्म करती है जैसे अग्नि इंधन को ।

शक्त्यग्रज्वलन-व्याल-सिंहक्रोधाऽतिशायिनी ।
अनन्तदुःखजननी कीर्तिता गुरुहीलना ।।११।।

शक्ति का अग्रभाग, अग्नि, सर्प और सिंह के क्रोध से भी अधिक भयंकर अनन्त दुःख को देनेवाली गुरु हीलना है ।

पठेद्यस्याऽन्तिके धर्मपदान्यस्यापि सन्ततम् ।
कायवाङ्मनसां शुद्ध्या कुर्याद् विनयमुत्तमम् ।।१२।।

जिसके पास धर्म सूत्र को पड़ते हैं उसका भी मन-वचन-काया की शुद्धि

से सतत उत्तम विनय करना चाहिए ।

पर्यायेण विहीनोऽपि शुद्धज्ञानगुणाऽधिकः ।
ज्ञानप्रदानसामर्थ्यादतो रत्नाधिकः स्मृतः ।।१३।।

इसलिए विद्यागुरु विद्यार्थी से संयम पर्याय में छोटे होने पर भी शुद्धज्ञान गुण की अपेक्षा से श्रेष्ठ होते हैं । ऐसे वे ज्ञान प्रदान के सामर्थ्य से रत्नाधिक कहलाते हैं ।

शिल्पार्थमपि सेवन्ते शिल्पाऽऽचार्यं जनाः किल ।
धर्माऽऽचार्यस्य धर्मार्थं किं पुनस्तदतिक्रमः ।।१४।।

निश्चित लोग शिल्प के लिए शिल्पाचार्य की सेवा करते हैं तो धर्म के लिए धर्माचार्य के विनय का उल्लंघ किस प्रकार हो सकता है ।

ज्ञानार्थं विनयं प्राहुरपि प्रकटसेविनः ।
अत एवाऽपवादेनाऽन्यथा शास्त्राऽर्थबाधनम् ।।१५।।

इसलिए प्रकट रूप से दोष का सेवन करनेवाले साधुओं का भी अपवाद से ज्ञान के लिए पढ़ने वाले को विनय करना इस प्रकार शास्त्रकार कहते हैं। अन्यथा शास्त्रार्थ बाधित होता है ।

न चैवमस्य भावत्वाद् द्रव्यत्वोक्तिर्विरुध्यते ।
सद्भावकारणत्वोक्ते र्भावस्याऽप्यागमाऽऽख्यया ।।१६।।

इस प्रकार ज्ञाननिमित्तक वंदन भाव रूप बन जाने से द्रव्यवंदन के कथन का विरोध आएगा । ऐसी शंका नहीं करना क्योंकि आगम शब्द से भाव भी वंदन का पुष्ट आलंघन कहा गया हैं ।

विनयेन विना न स्याज्जिनप्रवचनोन्नतिः ।
पयःसेकं विना किं वा वर्धते भुवि पादपः ।।१७।।

विनय के बिना जिनशासन की उन्नति नहीं हो सकती हैं । क्या जगत में पानी का सिंचन किये बिना वृक्ष बढ़ता है भला ?

विनयं ग्राह्यमाणो यो मृदुपायेन कुप्यति ।
उत्तमां श्रियमायान्तीं दण्डेनाऽपनयत्यसौ ।।१८।।

मृदु उपाय से विनय को सिखाने पर जो क्रोधित होता है । वह सामने

चलकर आई लक्ष्मी को लकड़ी से निकालता है ।

त्रैलोक्येऽपि विनीतानां दृश्यते सुखमङ्गिनाम् ।
त्रैलोक्येऽप्यविनीतानां दृश्यतेऽसुखमङ्गिनाम् ।।१९।।

तीनों लोक में विनीत जीवों को सुख मिलता देखा जाता है । तथा तीनों लोक में अविनीत जीवों को दुःख प्राप्त होता देखा जाता है ।

ज्ञानादिविनयेनैव पूज्यत्वाऽऽप्तिः श्रुतोदिता ।
गुरुत्वं हि गुणाऽपेक्षं न स्वेच्छामनुधावति ।।२०।।

ज्ञानादि संबंधी विनय करने से ही पूज्यत्व की प्राप्ति शास्त्र में बताई गई है । क्योंकि गुरुत्व-पूज्यत्व गुण सापेक्ष है । स्वयं की इच्छा के अनुसार पूज्यत्व दोड़कर नहीं आता है ।

विनये च श्रुते चैव तपस्याचार एव च ।
चतुर्विधः समाधिस्तु दर्शितो मुनिपुङ्गवैः ।।२१।।

विनय, श्रुत, तप तथा आचार के प्रति चार प्रकार की समाधि मुनिश्वरों ने बताई हैं ।

शुश्रूषति विनीतः सन् सम्यगेवाऽवबुध्यते ।
यथावत् कुरुते चाऽर्थं मदेन च न माद्यति ।।२२।।

१. विनित होकर अनुशासन का अर्थी होकर गुरु के अनुशासन को सुनने की इच्छा करे । २. विनीत होकर सम्यक् अनुशासन तत्त्व को जाने। ३. सुने हुए तत्त्व को देश-काल के अनुरूप आचरण करे तथा ४. अभिमान से गर्वित न हो । ये विनय समाधि के प्रकार हैं ।

श्रुतमेकाग्रता वा मे भावितात्मानमेव वा ।
स्थापयिष्यामि धर्मेऽन्यं वेत्यध्येति सदागमम् ।।२३।।

१. मुझे शास्त्र ज्ञान होगा ऐसे भाव से सुंदर आगम पढ़ें । २. मुझे एकाग्रता मिलेगी ऐसे भाव से सत् शास्त्र को पढ़ें । ३. मेरी आत्मा को भावित करके शुद्ध धर्म में स्थापित करेंगे तथा ४. दूसरे योग्य जीवों को उन-उन धर्म-साधना में जोड़ुंगा ऐसे सुंदर भाव से आगम को पढ़ें ।

कुर्यात्तपस्तथाऽऽचारं नैहिकाऽऽमुष्मिकाऽऽशया ।
कीर्त्याद्यर्थं च नो किं तु निष्कामो निर्जराकृते ।।२४।।

१. इसलोक की कामना के बिना, २. परलोक की कामना के बिना, ३. कीर्ति आदि की आशंसा के बिना, ४. निष्काम भाव से तप करना चाहिए और आचार का पालन करना चाहिए ।

इत्थं समाहिते स्वान्ते विनयस्य फलं भवेत् ।
स्पर्शाख्यं स हि तत्त्वाऽऽसिर्बोधमात्रं परः पुनः ।।२५।।

इस प्रकार मन चार प्रकार की विनय आदि समाधि वाला बने तो विनय के स्पर्श नाम का फल प्राप्त होता है । स्पर्शज्ञान यही तत्त्व की प्राप्ति है । अन्यथा दूसरी जानकारी मात्र बोधरूप बनती है ।

अक्षेपफलदः स्पर्शस्तन्मयीभावतो मतः ।
यथा सिद्धरसस्पर्शस्ताम्रे सर्वाऽनुवेधतः ।।२६।।

तांबे में सम्पूर्णतया अनुवेद्य होने से होनेवाले सिद्धरस के स्पर्श के समान तन्मय भावना के कारण स्पर्शज्ञान शीघ्र फलदायी माना गया है ।

इत्थं च विनयो मुख्यः सर्वाऽनुगमशक्तितः ।
मिष्टान्नेष्विव सर्वेषु निपतन्निक्षुजो रसः ।।२७।।

इस प्रकार सभी योगों में विनय सर्वानुगमशक्ति के कारण मुख्य योग है । जैसे सभी मिष्ठानों में गिरता गन्ने का रस मुख्य है वैसे समझना ।

दोषाः किल तमांसीव क्षीयन्ते विनयेन च ।
प्रसृतेनांऽशुजालेन चण्डमार्तण्डमण्डलात् ।।२८।।

प्रतापी सूर्य मंडल में से बाहर फैले किरणों के समुह से जैसे अंधकार का नाश होता है वैसे ही विनय से निश्चित सभी दोषों का विनाश होता है ।

श्रुतस्याऽप्यतिदोषाय ग्रहणं विनयं विना ।
यथा महानिधानस्य विना साधनसन्निधिम् ।।२९।।

उपचार आदि साधना के सन्निधान के बिना जैसे महानिधान का ग्रहण बड़े दोष के लिए होता है, वैसे ही विनय के बिना शास्त्र का ग्रहण अत्यन्त दोष के लिए होता है ।

विनयस्य प्रधानत्वद्योतनायैव पर्षदि ।
तीर्थं तीर्थपतिर्नत्वा कृतार्थोऽपि कथां जगौ ।।३०।।

सभी योगों में विनय की मुख्यता बताने के लिए ही कृतार्थ तीर्थंकर भगवान समवशरण में तीर्थ को नमस्कार करके ही धर्म देशना करते हैं ।

छिद्यते विनयो यैस्तु शुद्धोञ्छादिपरैरपि ।
तैरप्यगेसरीभूय मोक्षमार्गो विलुप्यते ।।३१।।

जो निर्दोष गौचरी में तत्पर होने पर विनय का उच्छेद करता है, वह आगे जाकर मोक्ष मार्ग का ही उच्छेद करता है ।

नियुङ्क्ते यो यथास्थानमेनं तस्य तु सन्निधौ ।
स्वयंवराः समायान्ति परमानन्द सम्पदः ।।३२।।

जो यथायोग्य स्थान पर उचित प्रकार के विनय का प्रयोग करता है उसके पास तो स्वयंवरा जैसे परमानन्द सम्पत्ति सामने से आती है ।

केवलिभुक्तिव्यवस्थापन द्वात्रिंशिका-३०

सर्वथा दोषविगमात् कृत कृत्यतया तथा ।
आहारसंज्ञा विरहादनन्तसुखसङ्गते ।।१।।

१. सर्वथा दोष का उच्छेद होने से, २. कृतकृत्य होने से, ३. आहार संज्ञा का अभाव होने से, तथा ४. अनन्त सुख उपलब्ध होने से केवली कवलाहारी नहीं होते हैं ।

दग्धरज्जुसमत्वाच्च वेदनीयस्य कर्मणः ।
अक्षोद्भवतया देहगतयोः सुखदुःखयोः ।।२।।

५. वेदनीय कर्म जली हुई रस्सी के समान होने से तथा ६. देहगत सुख-दुःख इन्द्रियाधीन होने से केवली कवलभोजी नहीं होते हैं ।

मोहात्परप्रवृतेश्च सातवेद्याऽनुदीरणात् ।
प्रमादजननादुच्चैराहार कथयाऽपि च ।।३।।

७. पर द्रव्य में प्रवृत्ति मोह के कारण होती है, ८. सातावेदनीय की उदीरणा केवली को नहीं होती है तथा ९. आहार की कथा से भी अत्यन्त प्रमाद उत्पन्न होता है इसलिए केवली कवलभोजी नहीं होते हैं ।

भुक्त्या निद्रादिकोत्पत्तेस्तथा ध्यान-तपोव्ययात् ।
परमौदारिकाङ्गस्य स्थास्नुत्वात्तां विनापि च ।।४।।

१०. भोजन से निद्रा आदि उत्पन्न होती है, ११. भोजन से ध्यान और तप का व्यय होने से तथा १२. केवलज्ञानी का शरीर परम औदारिक होने से भोजन बिना भी टिक सकता है ।

परोपकारहानेश्च पुरीषादिजुगुप्सया ।
व्याध्युत्पत्तेश्च भगवान् भुङ्क्ते नेति दिगम्बराः ।।५।।

१३. केवलज्ञानी भोजन करे तो परोपकार में क्षति पहुँचती है, १४. कवलहार का निहार भी अवश्य होता है, इसलिए जुगुप्सा से केवली भोजन नहीं करता है । भोजन में गड़बड़ होने से रोग उत्पन्न होता है । इसलिए केवलज्ञानी भोजन नहीं करते हैं । ऐसा दिगम्बर कहते हैं ।

सिद्धान्तश्चाऽयमधुना लेशेनाऽस्माभिरुच्यते ।
दिगम्बरमतव्यालपलायनकलागुरुः ।।६।।

अब हमारे द्वारा यह सिद्धान्त संक्षेप में कहा जाता है । यह श्वेताम्बर सिद्धान्त दिगम्बर मत रूपी सर्प का पलायन करने के लिए मोर के समान है।

हन्ताऽज्ञानादिका दोषा घातिकर्मोदयोद्‌भवाः ।
तदभावेऽपि किं न स्याद्वेदनीयोद्‌भवा क्षुधा ।।७।।

निश्चित दोष तो घातिकर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाले अज्ञान आदि हैं। केवलज्ञानी में अज्ञानादि १८ दोष न हो तो भी वेदनीय कर्म से उत्पन्न होनेवाली भुख क्यों न हो ?

अव्याबाधविघाताच्चेत्सा दोष इति ते मतम् ।
नरत्वमपि दोषः स्यात्तदा सिद्धत्वदूषणात् ।।८।।

अव्याबाध सुख को भंग करनेवाली होने से भुख दोष रूप है, ऐसा जो दिगंबर को मान्य हो तो सिद्धदशा को दूषित करने से केवलज्ञानी में मनुष्यपना दोषरूप बन जाएगा ।

घातिकर्मक्षयादेवाऽक्षता च कृतकृत्यता ।
तदभावेऽपि नो बाधा भवोपग्राहिकर्मभिः ।।९।।

घाति कर्म के क्षय से ही कृतार्थता केवलीज्ञानी में सलामत है । कृतकृत्यता न होने पर भी कोई बाधा नहीं । क्योंकि उनको भवोपग्राह कर्म रहे हुए हैं ।

आहारसंज्ञा चाऽऽहारतृष्णाख्या न मुनेरपि ।
किं पुनस्तदभावेन स्वामिनो भुक्तिबाधनम् ।।१०।।

खाने की तृष्णा नाम की आहारसंज्ञा तो महात्मा को भी नहीं होती है। तो आहारसंज्ञा न होने से सर्वज्ञ भगवन्त को भोजन करने में क्या बाधा हो सकती है ?

अनन्तं च सुखं भर्तुर्ज्ञानादिगुणसङ्गतम् ।
क्षुधादयो न बाधन्ते पूर्णं त्वस्ति महोदये ।।११।।

सर्वज्ञ प्रभु का ज्ञानादि गुणो से युक्त जो अनन्त सुख है, उसको क्षुधा

आदि बाधा नहीं देती है तथा परिपूर्ण सुख तो मोक्ष में ही होता है ।

दग्धरज्जुसमत्वं च वेदनीयस्य कर्मणः ।
वदन्तो नैव जानन्ति सिद्धान्ताऽर्थव्यवस्थितिम् ।।१२।।

सर्वज्ञ का वेदनीय कर्म जली हुई रस्सी के समान है- ऐसा बोलने वाले दिगंबर सिद्धान्त के तत्त्व की व्यवस्था को जरा भी नहीं जानते हैं ।

पुण्यप्रकृतितीव्रत्वादसाताद्यनुपक्षयात् ।
स्थितिशेषाद्यपेक्षं वा तद्वचो व्यवतिष्ठते ।।१३।।

पुण्य प्रकृति तीव्र होने से असाता आदि उपक्षीण नहीं होती है अथवा तो शेष स्थिति की अपेक्षा से दग्धरज्जुतुल्यतादर्शक वचन की व्यवस्था संगत हो सकती हैं ।

इन्द्रियोद्भवताध्रौव्यं बाह्ययोः सुखदुःखयोः ।
चित्रं पुनः श्रुतं हेतुः कर्माऽऽध्यात्मिकयोस्तयोः ।।१४।।

बाह्य सुख-दुःख अवश्य इन्द्रियाधीन हैं । परंतु आध्यात्मिक सुख-दुःख का कारण तो विविध प्रकार का कर्म है- ऐसा आगम में कहा है ।

आहारादिप्रवृत्तिश्च मोहजन्या यदीष्यते ।
देशनादिप्रवृत्त्याऽपि भवितव्यं तदा तथा ।।१५।।

आहार आदि प्रवृत्ति यदि मोहजन्य मानते हो तो देशना आदि प्रवृत्ति से भी-उसी प्रकार मोह होना चाहिए ।

यत्नं विना निसर्गाच्चेद्देशनादिकमिष्यते ।
मुक्त्यादिकं तथैव स्याद्दृष्टबाधा समोभयोः ।।१६।।

प्रयत्न बिना ही जो स्वभाव से सर्वज्ञ की देशना आदि माने तो भोजन आदि भी उसी प्रकार माने । प्रत्यक्ष बाधा तो दोनों स्थानों पर एकसमान ही है ।

भुक्त्या या सातवेद्यस्योदीरणापाद्यते त्वया ।
सापि देशनयाऽसातवेद्यस्यैतां तवाऽऽक्षिपेत् ।।१७।।

तुम दिगंबर भोजन द्वारा जो सातावेदनीय कर्म की उदीरणा का आपादान करते हो वह उदीरणा भी देशना द्वारा असातावेदनीय कर्म की उदीरणा को

तुम्हारे मत में खींच लाएगी ।

उदीरणाख्यं करणं प्रमादव्यङ्ग्यमत्र यत् ।
तस्य तत्त्वमजानानः खिद्यसे स्थूलया धिया ।।१८।।

प्रस्तुत में उदीरणा नाम का जो कारण हैं वह प्रमाद से सूचित होता है। उस उदीरणाकरण का स्वरूप नहीं जानते ऐसे तुम दिगंबर स्थूल बुद्धि से व्यर्थ खेद पाते हो ।

आहारकथया हन्त प्रमादः प्रतिबन्धतः ।
तदभावे च नो भुक्त्या श्रूयते सुमुनेरपि ।।१९।।

भाग्यशाली ! मुर्छा होने से आहार कथा से प्रमाद हो यह बात सत्य है; किंतु आहार की मुर्छा किये बिना भोजने करने से तो भाव साधु को भी प्रमाद संभव नहीं है । तो केवली को तो वह प्रमाद किस प्रकार संभव है।

निद्रा नोत्पाद्यते भुक्त्या दर्शनावरणं विना ।
उत्पाद्यते न दण्डेन घटो मृत्पिण्डमन्तरा ।।२०।।

दर्शनावरण के बिना भोजन से निद्रा उत्पन्न नहीं हो सकती है, निश्चित ही मिट्टी के बिना केवल दंड से कोई घड़ा उत्पन्न नहीं हो सकता है ।

रासनं च मतिज्ञानमाहारेण भवेद्यदि ।
घ्राणीयं स्यात्तदा पुष्पघ्राणतर्पणयोगतः ।।२१।।

यदि आहार करने से केवलज्ञानी को रसनेन्द्रिजन्य मतिज्ञान हो तो समवसरण में पुष्पों की परागरज का घ्राणेन्द्रिय से संबंध होने से घ्राणेन्द्रियजन्य मतिज्ञान उत्पन्न हो जाना चाहिए ।

ईर्यापथप्रसङ्गश्च समोऽत्र गमनादिना ।
अक्षते ध्यान-तपसी स्वकालासम्भवे पुनः ।।२२।।

प्रस्तुत में ईर्यापथ का प्रसंग तो गमनादि से समान हैं । भोजन के समय में नहीं होनेवाले ध्यान और तप अखंडित ही हैं ।

परमौदारिकं चाङ्गं भिन्नं चेत्तत्र का प्रमा ।
औदारिकादभिन्नं चेद्विना भुक्तिं न तिष्ठति ।।२३।।

औदारिक शरीर से परम औदारिक शरीर भिन्न है । - ऐसा मानने में

प्रमाण क्या हैं ? यदि सर्वज्ञशरीर से अभिन्न है तो भोजन बिना लम्बे समय तक टीक नहीं सकता है ।

भुक्त्याद्यदृष्टसम्बद्धमदृष्टं स्थापकं तनोः ।
तत्त्यागे दृष्टबाधा त्वत्पक्षभक्षणराक्षसी ।।२४।।

शरीर को टिकाने वाला कर्म भोजन आदि के कर्म के साथ जुड़ा हुआ है । उसका अभाव केवली में स्वीकारने में तो प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध वस्तु की बाधा दिगंबर के पक्ष का भक्षण करने के लिए राक्षसी है ।

प्रतिकूलाऽनिवर्त्यत्वात्तत्तनुत्वं च नोचितम् ।
दोषजन्म तनुत्वं च निर्दोषे नोपपद्यते ।।२५।।

भोजन संपादक कर्म भगवान में अल्प होता है- ऐसा मानना उचित नहीं । क्योंकि वह कर्म प्रतिकूल भावना से हटे वैसा नहीं है तथा निर्दोष में दोषोत्पत्ति अथवा तनुत्व भी संगत हो वैसा नहीं है ।

परोपकारहानिश्च नियताऽवसरस्य न ।
पुरीषादिजुगुप्सा च निर्मोहस्य न विद्यते ।।२६।।

परोपकार के लिए नियत समय जिसको प्राप्त है ऐसे केवलज्ञानी को परोपकार में हानी भोजन से नहीं होती है । निर्मोही केवलज्ञानी को मलमुत्र की जुगुप्सा नहीं होती है ।

ततोऽन्येषां जुगुप्सा चेत्सुरासुरनृपर्षदि ।
नाग्न्येऽपि न कथं तस्याऽतिशयश्चोभयोः समः ।।२७।।

मल-मूत्र से दूसरो को जुगुप्सा हो तो सुरासुर मनुष्यवाली पर्षदा में तीर्थंकर की नग्नता पर भी दूसरों को जुगुप्सा क्यों नहीं होती है ? अन्यथा अतिशय तो दोनों में समान ही है ।

स्वतो हितमिताहाराद् व्याध्युत्पत्तिश्च कापि न ।
ततो भगवतो भुक्तौ पश्यामो नैव बाधकम् ।।२८।।

स्वतः हित-मित आहार लेने के कारण रोगोत्पत्ति भी केवली को नहीं होती है । इसलिए भगवन्त भोजन करे उसमें कुछ बाधक तत्त्व हमें दिखाई नहीं देता है ।

तथापि ये न तुष्यन्ति भगवद्भुक्तिलज्जया ।
सदाशिवं भजन्तां ते नृदेहादपि लज्जया ।।२९।।

इतना समझाने पर भी भगवान क्या जिमते होंगे ? ऐसी लज्जा के कारण हमारी युक्तियों से जिनको संतोष नहीं होता उन दिगंबर लोगों को तो भगवान देह धारण करते होंगे ऐसी लज्जा से सदाशिव (नैयायिक) मान्य अशरीरी भगवान को भजना चाहिए ।

दोषं वृथा पृथूकृत्य भवोपग्राहिकर्मजम् ।
बध्नन्ति पातकान्यासं दूषयन्तः कदाग्रहात् ।।३०।।

भवोपग्राही कर्म से उत्पन्न दोष को कदाग्रह से व्यर्थ पृथक करके आप्त तीर्थंकर भगवान को दोषित ठहराते दिगंबर मात्र पाप बांधते हैं ।

कलङ्कैः कल्पितैर्दुष्टैः स्वामी नो नैव दूष्यते ।
चौराद्युत्क्षिप्तधूलीभिः स्पृश्यते नैव भानुमान् ।।३१।।

कल्पित दुष्ट कलंको से हमारे अरिहंत परमात्मा दूषित नहीं होते हैं । चौर आदि सूर्य के सामने चाहे जितनी धूल फेंके सूर्य को कभी भी बाधित नहीं करती, उल्टा धूल फेंकने वालों की आंखों में धूल गिरती है ।

परमानन्दितैरित्थं दिगम्बरविनिग्रहात् ।
प्राप्तं सिताम्बरैः शोभां जैनं जयति शासनम् ।।३२।।

इस प्रकार दिगंबरों को जीतने से परमानन्द को प्राप्त श्वेताम्बरों से शोभा को प्राप्त जैन शासन जयवन्त हो ।

मुक्तिद्वात्रिंशिका - ३१

दुःखध्वंसः परो मुक्तिर्मानं दुःखत्वमत्र च ।
आत्मकालाऽन्यगध्वंसप्रतियोगिन्यवृत्तिमत् ॥१॥

सत्कार्यमात्रवृत्तित्वात् प्रागभावोऽसुखस्य यः ।
तदनाधारगध्वंसप्रतियोगिनि वृत्तिमत् ॥२॥

गाथार्थ : दुःख का आत्यंतिक उच्छेद मोक्ष है । इसमें प्रमाण यह है कि, आत्मा और काल से भिन्न रहनेवाले ध्वंस के प्रतियोगी में नहीं रहनेवाला दुःखत्व (यह पक्ष है ।) दुःख के प्रागभाव के अनाधार में वृत्ति ऐसे ध्वंस के प्रतियोगी में वृत्ति है । क्योंकि वैसे दुःखत्व की सत्कार्यमात्र में वृत्ति है ।

दीपत्ववदिति प्राहुस्तार्किकास्तदसङ्गतम् ।
बाधाद् वृत्तिविशेषेष्टावन्यथाऽर्थान्तराऽव्ययात् ॥३॥

उपरोक्त अनुमान प्रयोग में दीपत्व जाति उदाहरण के रूप लेना ऐसा तार्किक कहते हैं । किंतु वह असंगत हैं; क्योंकि साध्यघटक वृत्तिविशेष मान्य हो तो बाधा आती है । अन्यथा अर्थात् वृत्तिसामान्य का निवेश इष्ट हो तो अर्थांतर दोष आता है ।

विपक्षबाधकाभावादनभिप्रेतसिद्धितः ।
अन्तरैतदयोग्यत्वाशङ्का योगाऽपहेति चेत् ॥४॥

- विपक्षबाधक तर्क न होने से अनभिप्रेतसिद्धि हो जाने से व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता है । उपरोक्त साध्य विना अयोग्यता की शंका योगसाधकों को अटकाती है । इस प्रकार जो नैयायिक कहते है तो वह ठीक नहीं है ।

नैवं शमादिसम्पत्त्या स्वयोग्यत्वविनिश्चयात् ।
न चाऽन्योऽन्याश्रयस्तस्याः सम्भवात् पूर्वसेवया ॥५॥

इस प्रकार यह तर्क ठीक नहीं है । क्योंकि शमादि गुण की प्राप्ति के द्वारा स्वयं की योग्यता का निश्चय हो सकता है । पूर्वसेवा से शमादि गुणों की प्राप्ति संभव होने से अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं आता है ।

शमाद्युपहिता हन्त योग्यतैव विभिद्यते ।
तदवच्छेदकत्वेन सङ्कोचस्तेन तस्य न ॥६॥

शमादियुक्त मोक्षयोग्यता ही भिन्न हैं । इसलिए योग्यता अवच्छेदक रूप शमादि को कहने मात्र से कोई संकोच दोष नहीं आता है ।

संसारित्वेन गुरुणा शमादौ च न हेतुता ।
भव्यत्वेनैव किं त्वेषेत्येतदन्यत्र दर्शितम् ।।७।।

संसारित्व गुणधर्म गौरवग्रस्त होने से उसे स्वरूप से शमादि का हेतु नहीं मान सकते हैं । किंतु शमादि हेतुता भव्यत्व रूप में ही मानना चाहिए। यह बात अन्यत्र बताई गई है ।

परमात्मनि जीवात्मलयः सेति त्रिदण्डिनः ।
लयो लिङ्गव्ययोऽत्रेष्टो जीवनाशस्तु नेष्यते ।।८।।

परमात्मा में जीवात्मा का लय मुक्ति है ऐसा त्रिदंडी कहते हैं। यहाँ लय अर्थात् लिंगव्यय, यह तो हमें भी मान्य हैं । जीव का नाश लय के रूप में मान्य नहीं हैं ।

बौद्धास्त्वालयविज्ञानसन्ततिः सेत्यकीर्तयन् ।
विनाऽन्यवयिनमाधारं तेषो मेषा कदर्थना ।।९।।

आलयविज्ञानसंतति वह मुक्ति-ऐसा बौद्धों ने कहा हैं । किंतु अन्वयी रूप आधार द्रव्य के बिना यह मुक्ति उनके लिए विडंबना रूप हैं ।

विवर्त्तमानज्ञेयाऽर्थाऽपेक्षायां सति चाऽऽश्रये ।
अस्यां विजयतेऽस्माकं पर्यायनयदेशना ।।१०।।

ज्ञानधारा को मानकर विवर्तमान ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा से यदि आलयविज्ञान संतति को मोक्ष मानने में आए तो हमारी पर्यायनय की देशना जयवंती होगी।

स्वातन्त्र्यं मुक्तिरित्यन्ये प्रभुता तन्मदः क्षयी ।
अथ कर्मनिवृत्तिश्चेत् सिद्धान्तोऽस्माकमेव सः ।।११।।

स्वतन्त्रता अर्थात् मुक्ति इस प्रकार अन्यवादी कहते हैं । स्वतन्त्रता यदि प्रभुता स्वरूप है तब तो उसका अहंकार है और उसका तो नाश होता है । स्वतन्त्रता कर्म निवृत्ति है ऐसा कहते हो तो वह तो हमारा ही सिद्धान्त है ।

पुंसः स्वरूपाऽवस्थानं सेति साङ्ख्याः प्रचक्षते ।
तेषामेतदसाध्यत्वं वज्रलेपोऽस्ति दूषणम् ।।१२।।

पुरुष के स्वरूप में अवस्थान मोक्ष है- ऐसा सांख्य कहते हैं। उनका यह मोक्ष असाध्य रूप दुषण वज्रलेप बनता हैं ।

पूर्वचित्तनिवृत्तिः साऽग्रिमाऽनुत्पादसङ्गता ।
इत्यन्ये श्रयते तेषामनुत्पादो न साध्यताम् ।।१३।।

अग्रिमचित्त अनुत्पाद से युक्त पूर्वचित्तनिवृत्ति मुक्ति है ऐसा अन्य लोग कहते हैं । किंतु विद्वानों के मत में अनुत्पाद साध्यता को प्राप्त नहीं होता है।

साऽऽत्महानमिति प्राह चार्वाकस्तत्तु पाप्मने ।
तस्य हातुमशक्यत्वात्तदनुद्देशतस्तथा ।।१४।।

आत्महत्या मुक्ति है ऐसा चार्वाक दर्शन कहता है । किंतु ऐसा वचन भी पाप के लिए होता है । क्योंकि आत्मा का नाश करना असंभव है तथा आत्महत्या उद्देश्य भी नहीं है ।

नित्योत्कृष्टसुखव्यक्तिरिति तौतातिता जगुः ।
नित्यत्वं चेदनन्तत्वमत्र तत्सम्मतं हि नः ।।१५।।

नित्य उत्कृष्ट सुख की अभिव्यक्ति अर्थात् मुक्ति ऐसा तौतातित कहते हैं । यहाँ यदि नित्यत्व अनन्त स्वरूप हो तो हमको वह स्वीकार ही हैं ।

अथाऽनादित्वमेतच्चेत्तथाप्येष नयोऽस्तु नः ।
सर्वथोपगमे च स्यात्सर्वदा तदुपस्थितिः ।।१६।।

यदि नित्यत्व अनादित्व रूप में मान्य हैं तो भी हमारा ही नय मान्य होगा । सर्वथा अनादित्व स्वरूप नित्यत्त्व मानोगे तो सदैव नित्य उत्कृष्ट सुख की अभिव्यक्ति होने की समस्या आऐगी ।

वेदान्तिनस्त्वविद्यायां निवृत्तायां विविक्तता ।
सेत्याहुः सापि नो तेषामसाध्यत्वादवस्थितेः ।।१७।।

अविद्या निवृत्त होने पर केवलात्मा की अवस्थिति वह मुक्ति है- ऐसा वेदान्ती कहते हैं । किंतु वह भी संगत नहीं है । क्योंकि आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति होने से मुक्ति में साध्यत्व नहीं है ।

कृत्स्नकर्मक्षयो मुक्तिरित्येष तु विपश्चिताम् ।
स्याद्वादाऽमृतपानस्योद्गारः स्फारनयाऽऽश्रयः ।।१८।।

सकल कर्म का क्षय मुक्ति है यह तो विद्वानों को स्पष्ट नयों के आश्रय से उत्पन्न हुआ स्याद्वादरूप अमृत के पान का उद्गार है ।

ऋजुसूत्रादिभिर्ज्ञानसुखादिकपरम्परा ।
व्यङ्ग्यमावरणोच्छित्त्या सङ्ग्रहेणेष्यते सुखम् ।।१९।।

ऋजुसूत्र आदि नय मानते हैं कि, ज्ञान-सुख आदि की परंपरा मुक्ति है । संग्रह नय मानता है कि आवरण के उच्छेद से प्रगट होने वाला सुख-मुक्ति है ।

क्षयः प्रयत्नसाध्यस्तु व्यवहारेण कर्मणाम् ।
न चैवमपुमर्थत्वं द्वेषयोनिप्रवृत्तितः ।।२०।।

व्यवहार नय से मुक्ति अर्थात् प्रयत्नसाध्य कर्मक्षय । ऐसा मानने में अपुरुषार्थत्व दोष नहीं आता है । क्योंकि प्रस्तुत में द्वेषमूलक प्रवृत्ति होती है।

दुःखद्वेषे हि तद्धेतून् द्वेष्टि प्राणी नियोगतः ।
जायतेऽस्य प्रवृत्तिश्च ततस्तन्नाशहेतुषु ।।२१।।

दुःख के प्रति द्वेष आता है तो जीव अवश्य दुःख के हेतुओं के प्रति भी द्वेष रखता है । इसलिए उस जीव की दुःख नाश के हेतुओं में प्रवृत्ति होती है ।

अन्यत्राऽप्यसुखं मा भून्माङोऽर्थेऽत्रान्वयः स्थितः ।
दुःखस्यैवं समाश्रित्य स्वहेतुप्रतियोगिताम् ।।२२।।

अन्य स्थान पर भी दुःख न हो ऐसे उद्देश्य में 'न' शब्द का अर्थ है ध्वंस । इस प्रकार दुःख के स्वहेतु प्रतियोगी के आधार पर ध्वंस में अन्वय सिद्ध होता है ।

स्वतोऽपुमर्थताप्येवमिति चेत् कर्मणामपि ।
शक्त्या चेन्मुख्यदुःखत्वं स्याद्वादे किं नु बाध्यताम् ।।२३।।

किंतु कर्मक्षय में स्वतः पुरुषार्थता नहीं बनती हैं- इस प्रकार का तर्क यदि तुम करते हो तो इसका जवाब यह हैं कि, कर्म में भी शक्ति रूप में मुख्य दुखपणा स्वीकारने में आए तो स्याद्वाद में क्या बाधा आती है ? कुछ नहीं ।

स्वतः प्रवृत्तिसाम्राज्यं किं चाऽखण्डसुखेच्छया ।
निराबाधं च वैराग्यमसङ्गे तदुपक्षयात् ।।२४।।

अखंड सुखेच्छा से स्वतः प्रवृत्ति भी संगत है । असंग अनुष्ठान आए तब सुखेच्छा नष्ट होने से वैराग्य निराबाध ही रहता है ।

समानाऽऽय-व्ययत्वे च वृथा मुक्तौ परिश्रमः ।
गुणहानेरनिष्टत्वात्ततः सुष्ठूच्यते ह्यदः ।।२५।।

लाभ और नुकसान समान होता है तो मुक्ति में परिश्रम व्यर्थ होगा । क्योंकि गुण का नाश किसी को इष्ट नहीं है । इसलिए आगे सुंदर बात कही है ।

दुःखाऽभावोऽपि नाऽवेद्यः पुरुषार्थतयेष्यते ।
न हि मुर्छाद्यवस्थाऽर्थं प्रवृत्तो दृश्यते सुधीः ।।२६।।

अनुभव न हो सके वैसा दुःखभाव भी पुरुषार्थ से इच्छित नहीं है । क्योंकि बेहोशी आदि के लिए प्रवृत्ति करता हुआ कोई बुद्धिशाली व्यक्ति देखा नहीं गया है ।

एतेनैतदपास्तं हि पुमर्थत्वेऽप्रयोजकम् ।
तज्ज्ञानं दुःखनाशश्च वर्तमानोऽनुभूयते ।।२७।।

उपरोक्त कारण से ही पुरुषार्थत्व में पुरुषार्थ का ज्ञान प्रयोजक नहीं तथा वर्तमान दुःखनाश अनुभव होता है । ऐसा नैयायिक का कथन निरस्त हो जाता है ।

गुणहानेरनिष्टत्वं वैराग्यान्नाथ वेद्यते ।
इच्छा-द्वेषौ विना नैवं प्रवृत्तिः सुख-दुखयोः ।।२८।।

यदि नैयायिक ऐसा कहते हैं कि वैराग्य होने से गुणहानि में अनिष्टपने का संवेदन मुमुक्षु को नहीं होता हैं तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि इस प्रकार सुखराग के बिना अथवा दुःखद्वेष के बिना तो प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है।

अशरीरं वाव सन्तमित्यादिश्रुतितः पुनः ।
सिद्धो हन्त्युभयाऽऽभावो नैकसत्तां यतः स्मृतम् ।।२९।।

औ मैत्रेयी ! शरीर शून्य, आत्मा प्रिय-अप्रिय का स्पर्श नहीं करता है।

इस प्रकार की श्रुति से सिद्ध उभयाभाव किसी एक की सत्ता का अभाव नहीं करता है । क्योंकि स्मृति में कहा गया है कि, (आगे के श्लोक में बताया गया हैं ।)

सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
तं वै मोक्षं विजानीयाद्दुष्पापमकृतात्मभिः ।।३०।।

मोक्ष उसको समझना चाहिए कि जब व्यक्ति को ऐसे आत्यन्तिक विशुद्ध सुख की प्राप्ति हो जो कि अतीन्द्रिय और बुद्धि ग्राह्य हो । शास्त्रोंक्त साधना प्रणालिका के द्वारा जिसने आत्मा का संशोधन नहीं किया है; उन व्यक्तियों के लिए मोक्ष आना दुर्लभ है ।

उपचारोऽत्र नाऽबाधात् साक्षिणी चाऽत्र दृश्यते ।
नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यप्यपरा श्रुतिः ।।३१।।

यहाँ दुःख अभाव में सुख का उपचार किया हो ऐसा नहीं कहना; क्योंकि नित्य विज्ञान आनन्द ब्रह्म है । ऐसी दूसरी श्रुति भी यहाँ साक्षी रूप में देखी गई है ।

परमानं दलयतां दयावताम् ।
परमानन्दपीनाः स्म परमानन्दचर्चया ।।३२।।

परवादियों के प्रकृष्ट दर्पजनक कुतर्कों को नष्ट कर और दयालु श्वेतांबर साधुओं के परमानन्दमय मोक्ष की विचारधारा से हम परम आनन्द से परिपुष्ट हुए हैं ।

सज्जनस्तुति द्वात्रिंशिका - ३२

नाम सज्जन इति त्रिवर्णकं, कर्णकोटरकुटुम्बि चेद् भवेत् ।
नोल्लसन्ति विषशक्तयस्तदा, दिव्यमन्त्रनिहताः खलोक्तयः ।।१।।

'सज्जन' इस प्रकार का तीन अक्षरवाला नाम यदि कान रूपी घर कुटुम्ब में जाता है तो दुर्जनों के द्वारा कहे गये विषशक्तिवाले वचन दिव्यमन्त्र से हने गये हो वैसे उछलते नहीं हैं ।

स्याद् बली बलमिह प्रदर्शयेत्, सज्जनेषु यदि सत्सु दुर्जनः ।
किं बलं नु तमसोऽपि वर्ण्यते, यद् भवेदसति भानुमालिनि ।।२।।

यदि यहाँ सज्जन के उपस्थित नहीं होने पर दुर्जन अपना बल बतावे तो वे बलवान कहलाते हैं । किंतु ऐसा संभव नहीं है क्योंकि सूर्य उपस्थित न हो तो क्या अंधकार की ताकत की प्रशंसा होती है ।

दुर्जनस्य रसना सनातनीं सङ्गतिं न परुषस्य मुञ्चति ।
सज्जनस्य तु सधाऽतिशायिनः कोमलस्य वचनस्य केवलम् ।।३।।

दुर्जन की जीभ हमेशा कठोर वचन की संगत छोड़ती नहीं है । सज्जन की जीभ हमेशा अमृत से भी अधिक मधुरतम कोमल वचन की ही मात्र संगत करती है ।

या द्विजिह्वदलना घनाऽऽदराद् याऽऽत्मनीह पुरुषोत्तमस्थितिः ।
याऽप्यनन्तगतिरेतयेष्यते सज्जनस्य गरुडाऽनुकारिता ।।४।।

लोक में जो सर्प का दलन करनेवाला है, पुरुषोत्तम विष्णु का जो अवस्थान है तथा जिसकी अनन्तगति है इन तीनों के द्वारा सज्जन की आत्मा में अति आदर से गरुड़ की तुल्यता सुप्रसिद्ध है ।

सज्जनस्य विदुषां गुणग्रहे, दूषणे निविशते खलस्य धीः ।
चक्रवाकदृगहर्पतेर्द्युतौ, घूकदृक् तमसि सङ्गमङ्गति ।।५।।

सज्जनों की बुद्धि विद्वानों के गुण को ग्रहण करने में जुड़ती है तथा दुर्जन की बुद्धि विद्वानों के दोष को ग्रहण करने में जुड़ती है । निश्चित ही चक्रवाक पक्षी की दृष्टि सुर्य की प्रभा में जुड़ती है । और घुवड़ की दृष्टि अंधकार का संग करती है ।

दुर्जनैरिह सतामुपक्रिया, तद्वचोविजय कीर्तिसम्भवात् ।
व्यातनोति जिततापविप्लवां, वह्निरेव हि सुवर्णशुद्धत्ताम् ।।६।।

दुर्जन निश्चित ही सज्जनों के उपर उपकार करते हैं । क्योंकि दुर्जनों के आक्षेपों को जीत लेने से सज्जनों की कीर्ति ही फैलती है । निश्चित ही अग्नि के ताप के उपद्रव को जीतने से उत्पन्न हुई स्वर्णशुद्धि को अग्नि ही प्रकट करती है ।

या कलङ्किवसतेर्न सक्षया, या कदाऽपि न भुजङ्गसङ्गता ।
गोत्रभित्सदसि या न सा सतां, वाचि काचिदतिरिच्यते सुधा ।।७।।

सज्जनों की वाणी में रहा अमृत निश्चित ही को अद्वितीय वस्तु है । जो चंद्र में रहा हुआ क्षयवाला अमृत नहीं है, जो कभी भी सर्प की संगत्त नहीं करता हैं तथा जो इन्द्र सभा में भी नहीं होता है ।

दुर्जनोद्यमतपर्तुपूर्तिजात्तापतः श्रुतलता क्षयं व्रजेत् ।
नो भवेद्यदि गुणाऽम्बुवर्षिणी, तत्र सज्जनकृपातपात्ययः ।।८।।

यदि गुणस्वरूप पानी को बरसानेवाली सज्जनकृपा रूपी वर्षाऋतु न हो तो दुर्जन के आक्षेप आदि परिश्रम स्वरूप ग्रीष्म ऋतु से उत्पन्न हुए ताप से श्रुत रूपी लता नाश को प्रास हो जाएगी ।

तन्यते सुकविकीर्तिवारिधौ दुर्जनेन वडवानलव्यथा ।
सज्जनेन तु शशाङ्ककौमुदीसङ्गरङ्गवदहो महोत्सवः ।।९।।

अच्छे कवि के कीर्तिस्वरूप सागर में दुर्जन वडवानल की व्यथा को फैलाते हैं । सज्जन तो उस महासागर में चंद्र की चांदनी के साथ रंगीन बनकर महोत्सव को फैलाते हैं ।

यद्यनुग्रहपरं सतां मनो दुर्जनात् किमपि नोभयं तदा ।
सिहं एव तरसा वशकृते किं भयं भुवि शृगालबालकात् ।।१०।।

यदि मेरे उपर सज्जनों का मन अनुग्रह परायण हो तो मुझे दुर्जनों से किसी प्रकार कोई भय नहीं है । जो सिंह को शीघ्र वश में करले उसको क्या दुनियां में शियाल के बच्चे से भय होता है ।

खेदमेव तनुते जडात्मनां सज्जनस्य तु मुदं कवेः कृतिः ।
स्मेरता कुवलयेऽम्बुजे व्यथा (डब्जपीडनं) चन्द्रभासि भवतीति हि स्थितिः ।।११।।

कवि की रचना जड़बुद्धिवाले दुर्जनों को खेद ही उत्पन्न करती है। सज्जनों को तो अच्छे कवि की रचना आनन्द देती हैं। निश्चित ही चंद्र की चांदनी खिली हो तब रात्री विकासी कुवलय नाम के कमल में विकस्वरता आती हैं परंतु सूर्य विकासी कमल में पीड़ा होती हैं। ऐसी यहाँ परिस्थिति है।

न त्यजन्ति कवयः श्रुतश्रमं संमुदैव खलपीडनादपि ।
स्वोचिताऽऽचरणबद्धवृत्तयः साधवः शम-दमक्रियामिव ।।१२।।

जैसे स्वोचित आचरण करने में तत्पर साधु दुर्जन की हेरान मति से शम-दम क्रिया को छोड़ता नहीं वैसे ही दुर्जन की हेरानगतियों से कवि भी श्रुतपरिश्रम के आनन्द से छूटते नहीं हैं।

नव्यतन्त्ररचनं सतां रतेस्त्यज्यते न खलखेदतो बुधैः ।
नैव भारभयतो विमुच्यते शीतरक्षणपटीयसी पटी ।।१३।।

सज्जनों को होनेवाले आनन्द से पंडित नये शास्त्र की रचना दुर्जनो को खेद होने पर भी छोड़ते नहीं हैं। निश्चित ही शीतऋतु में ठंडी से रक्षा करने में समर्थ गरम वस्त्र भार लगने के भय से छोड़ नहीं सकते हैं।

आगमे सति नवः श्रमो मदान्न स्थितेरिति, खलेन दूष्यते ।
नौरिवेह जलधौ प्रवेशकृत् सोऽयमित्यथ सतां सदूत्तरम ।।१४।।

आगम के उपस्थित होने पर भी नये शास्त्र के सर्जन का श्रम करना वह अभिमान से होता है, जिनागम की मर्यादा होने से नहीं- ऐसा बोलकर दुर्जन नयेशास्त्र रचना को दूषित करते हैं। यहाँ सज्जनों का सत्य जवाब यह है कि, ''नये शास्त्रों की रचना का यह नया परिश्रम आगम समुद्र में प्रवेश करनेवाली नौका है।

पूर्वपूर्वतनसूरिहीलना नो तथापि निहेतेति दुर्जनः ।
तातवागनुविधायिबालवन्नेयमित्यथ सतां सुभाषितम् ।।१५।।

किंतु पूर्व के प्राचीन आचार्यों के प्रति हीलना नाम का दोष तो दूर नहीं होता है। इस प्रकार दूर्जन कहते हैं। यहाँ सज्जन कथित सुंदर उत्तर यह है कि- 'पिता की बात को ही बोलने वाले बालक की बात जैसे पिता की आशातना नहीं बल्कि बालक की पिता के प्रति वफादारी है; वैसे ही पूर्व के प्राचीन आचार्यों की वाणी को स्वयं के ग्रंथ में संवाद रूप बतानेवाले उत्तरकालीन

ग्रंथकार भी पूर्व के आचार्यों की आशातना नहीं करते बल्कि भक्ति करते हैं। उनके वचन का समर्थन करते हैं ।

किं तथापि पलिमन्थमन्थरैरत्र साध्यमिति दुर्जनोदिते ।
स्वाऽन्ययोरूपकृतिर्नवा मतिश्चेति सज्जननयोक्तिरर्गला ।।१६।।

फिर भी मूल आगम के स्वाध्याय में व्याघात करने से आप मलीन और हल्के साबित हुए ऐसे नये शास्त्रों से तुम क्या साधने की इच्छा करते हो ? इस प्रकार दुर्जन कहते हैं । तब सज्जन कहते हैं कि- ''स्वपर पर उपकार नवीन निपुण बुद्धि से नव्यशास्त्र साधने लायक हैं ।'' सज्जनों का यह जवाब दुर्जन के आक्षेप के सामने प्रतिबंधक है ।

सप्रसङ्गमिदमाद्यविंशिकोपक्रमे मतिमतोपपादितम् ।
चारुतां व्रजति सज्जनस्थितिर्नाऽक्षतासु नियतं खलोक्तिषु ।।१७।।

इस विषय में बुद्धिशाली श्री हरिभद्रसूरिजी ने प्रथम विंशिका के प्रारंभ में सप्रसंग बताया है कि निश्चित ही दुर्जनों की बात का खंडन न हो तब तक सज्जन की बात की कार्यपद्धति सुंदरता प्राप्त नहीं कर सकती है ।

न्यायतन्त्रशतपत्रभानवे लोकलोचनसुधाऽञ्जनत्विषे ।
पापशैलशतकोटिमूर्त्तये सज्जनाय सततं नमो नमः ।।१८।।

न्यायतंत्र रूपी कमल के विकास के लिए सूर्य के समान, लोगों के नेत्र के लिए चंद्र की कांति के समान, तथा पापरूपी पर्वत को भेदने के लिए वज्र के समान ऐसे सज्जन को सतत बारंबार नमस्कार हो ।

भुषित बहुगुणे तपागणे श्रीयुतैर्विजयदेवसूरिभिः ।
भूरिसूरितिलकैरपि श्रिया पूरितैर्विजयसिंहसूरिभिः ।।१९।।
धाम भास्वदधिकं निरामयं रमणीयकमपि प्रसृत्वरम् ।
नाम कामकलशाऽतिशायितामिष्टपूर्तिषु यदीयमञ्चति ।।२०।।
यैरुपेत्य विदुषां सतीर्थ्यतां स्फीतजीतविजयाऽभि धावताम् ।
धर्मकर्म विदधे जयन्ति ते श्रीनयादिविजयाऽभिधा बुधाः ।।२२।।

श्रीयुत विजयदेवसूरिजी महाराज तथा अनेक आचार्यों में तिलक के समान और एश्वर्य से युक्त ऐसे आचार्य श्री विजयसिंहसूरिजी महाराज से विभूषित ऐसे बहुगुण संपन्न तपागच्छ में जिनका १. सूर्य से अधिक तेजस्वी, २. निरोगताकारी,

३. रमणीय और चारों ओर प्रसिद्ध नाम जो कि, इष्ट फल की सिद्धि में कामकुंभ से भी अधिकता धारण करनेवाला तथा जिसने तेजस्वी ऐसे जीतविजयजी नाम वाले विद्वान उपाध्याय का गुरुबंधुत्व प्राप्त करके, धर्म साधना करके वे श्री नयविजयजी नाम के पंडित उपाध्याय जयवन्त वर्तते हैं ।

उद्यतैरहमपि प्रसद्य तैस्तर्कतन्त्रमधिकाशि पाठितः ।
एष तेषु धुरि लेख्यतां ययौ सद्गुणस्तु जगतां सतामपि ।।२२।।

जिन गुरुदेव नयविजयजी महाराज ने विहार आदि उग्र उद्यम करके अनुग्रह करके मेरे को काशी में न्यायदर्शन का अभ्यास कराया । उनका यह सद्गुण तो विश्व के अन्य सज्जनों में भी मुख्य गणनापात्र बना है ।

येषु येषु तदनुस्मृतिर्भवत्तेषु धावति च दर्शनेषु धीः ।
यत्र यत्र मरुदेति लभ्यते तत्र तत्र खलु पुष्पसौरभम् ।।२३।।

जिन-जिन दर्शनो में गुरु का स्मरण जुड़ा हुआ हैं । उन-उन दर्शनों में मेरी बुद्धि भी दोड़ती है । निश्चित ही हवा जहाँ-जहाँ जाति है वहाँ-वहाँ पुष्प की सुवास भी जाती है ।

तद्गुणैर्मुकुलितं रवेः करैः शास्त्रपद्ममिह मन्मनोह्रदात् ।
उल्लसन्नयपरागसङ्गतं सेव्यते सुजनषट्पदव्रजैः ।।२४।।

बंद शास्त्ररूपी कमल यहाँ मेरे गुरुदेव के सूर्यकिरणरूप नाम स्मरण गुण से खिल जाता है । मेरे मन रूपी सरोवर में से निकलती सुनय स्वरूप पराग रज से युक्त हुआ शास्त्र कमल सज्जन रूपी भ्रमरों के समूह से सेवन किया जाता है ।

निर्गुणो बहुगुणैर्विराजितांस्तान् गुरुनुपकरोमि कैर्गुणैः ।
वारिदस्य ददतो हि जीवनं किं ददातु बत चातकाऽर्भकः ।।२५।।

अनेक गुणों से शोभित उन गुरुदेव को मैं निर्गुणी कैसे गुणों से उपकृत कर सकता हुँ ? निश्चित ही स्वयं के जीवन को देनेवाले बादल को बेचारा चातक बाल क्या दे सकता है ?

प्रस्तुतश्रमसमर्थितैर्नयैर्योग्यदानफलितैस्तु तद्यशः ।
यत्प्रसर्पति सतामनुग्रहादेतदेव मम चेतसो मुदे ।।२६।।

ग्रन्थ रचना संबंधि प्रस्तुत श्रम से समर्थित विविध नय स्वयं के योग्य

फल देने से सफल हुए हैं । इसलिए इन सार्थक नयों के द्वारा श्रीनयविजयजी गुरुदेव का जो यश सज्जनों के अनुग्रह से चारों ओर फैला है मात्र यह बात मेरे चित्त को आनन्द देने के लिए समर्थ बनती है ।

आसते जगति सज्जनाः शतं तैरुपैमि नु समं कमञ्जसा ।
किं न सन्ति गिरयः परःशता मेरुरेव तु बिभर्तु मेदिनीम् ।।२७।।

दुनियाँ में सज्जन तो हजारों हैं । किंतु उन नयविजयजी के साथ मैं किस सज्जन के समान उपमित कर सकता हूँ ? क्या हजारों पर्वत दुनियाँ में नही होते हैं ? किंतु फिर भी पृथ्वी को तो मेरुपर्वत ही धारण करता है ।

तत्पदाम्बुरुहषट्पदः स च ग्रन्थमेनमपि मुग्धधीर्व्यधाम् ।
यस्य भाग्यनिलयोऽजनि श्रियां सद्म पद्मविजयः सहोदरः ।।२८।।

उन नयविजयविबुध गुरु के चरणकमल में भँवरे के समान उस मुग्धबुद्धिवाले यशोविजयजी ने इस ग्रन्थ को बनाया है तथा जिनके भाई पद्मविजय ऐश्वर्य के घर और कल्याण धाम बने थे ।

मत्त एव मृदुबुद्धयश्च ये तेष्वतोऽप्युपकृतिश्च भाविनी ।
किं च बालवचनाऽनुभाषणाऽनुस्मृतिः परमबोधशालिनाम् ।।२९।।

मेरे से भी मंदबुद्धिवाले हो उन पर ही इस ग्रन्थ से उपकार होगा । परम बोधवाले जीव बालक के वचन का अनुसरण और स्मरण करते हैं क्या?

अत्र पद्यमपि पाङ्क्तिकं क्वचिद्वर्त्तते च परिवर्त्तितं क्वचित् ।
स्वाऽन्ययोः स्मरणमात्रमुद्दिशंस्तत्र नैष तु जनोऽपराध्यति ।।३०।।

इस ग्रन्थ में कुछ श्लोक पूर्वकालीन ग्रन्थों की पंक्ति को अक्षरशः अनुशरण करके लिखे गये हैं; और कुछ को आंशिक परिवर्तन करके लिखा गया है । ऐसा करने के पीछे उस स्थान में स्व-पर को केवल पूर्व ग्रन्थ स्मृति करवाने का उद्देश है । उस उद्देश को पूरा करते हुए यह व्यक्ति (ग्रन्थ स्वयं) अपराध का पात्र नहीं बनता है ।

ख्यातिमेष्यति परामयं पुनः सज्जनैरनुगृहीत एव च ।
किं न शङ्करशिरोनिवासतो निम्नगा सुविदिता सुरापगा ।।३१।।

सज्जन पठन-पाठन आदि द्वारा अनुग्रह करेंगे तो ही यह ग्रन्थ श्रेष्ठ ख्याति को प्राप्त होगा । क्या अधोगमन के स्वभाव वाली गंगा शंकर के सिर

में निवास करने से दैविक नदी के रूप में प्रसिद्ध नहीं हुई ?

यत्र स्याद्वादविद्या परमततिमिरध्वान्तसूर्यांशुधारा
निस्तारात् जन्मसिन्धोः शिवपदपदवीं प्राणिनो यान्ति यस्मात् ।
अस्माकं किं च यस्माद् भवति शमरसैर्नित्यमाकण्ठतृप्तिः
जैनेन्द्रं शासनं तद्विलसति परमानन्दकन्दाऽम्बुवाहः ।।३२।।

जिस शासन में एकांतवादीओं की मान्यता स्वरूप अंधकार का नाश करने के लिए सुर्य के प्रकाशपुंज के समान स्याद्वादविद्या रही है तथा जिस जिनशासन के कारण भव सागर से निस्तार प्राप्त कर जीव मोक्ष पद को प्राप्त हुए, जिस जिनशासन से प्रगट हुए शमरस से हमको सतत आकंठ तृप्ति होती हैं । वह यह जिनशासन परमानन्द के मूल को सिंचने के लिए बादल के समान हमेशा जयवन्त वर्तता है ।

उपाध्याय यशोविजयजी की महत्वपूर्ण कृति का नाम है द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, श्लोकों की संख्या के आधार पर ग्रन्थ का नामकरण करने का इतिहास पुराना है । सर्वप्रथम अनेकांत के प्रतिष्ठापक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचित बत्तीस श्लोक की कुछ बत्तीसियाँ प्राप्त होती हैं । आचार्य हरिभद्र महाराज द्वारा रचित अष्टक, पंचाशक, षोडशक, विंशिका आदि कई ऐसे ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनका नामाभिधान विविध श्लोक समूह की संख्या के आधार पर किया गया है । इन्ही का अनुसरण करते हुए यशोविजयजी महाराज ने द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका नामक एक अद्भुत एवं अनुपम ग्रंथ की रचना की है । ग्रन्थ के नामानुसार इन बत्तीस प्रकरणों में बत्तीस-बत्तीस श्लोक हैं, जो बिंदु में सिंधु की तरह होकर ज्ञान का समुद्र है । इस ग्रन्थ में बत्तीस विषयों पर संक्षेप में प्रत्येक विषय पर बत्तीस श्लोकों द्वारा विषयों का सांगोपांग एवं अर्थगंभीर विषद विवरण किया गया है ।

BHARAT GRAPHICS - Ahmedabad-1
M : +91-99250 20106, 89058 51988